वार्षिक रु. १६०, मूल्य रु. १७
ISSN 2582-0656
9 772582 065005
विवेक ज्योति
वर्ष ५८ अंक ६ जून २०२०
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
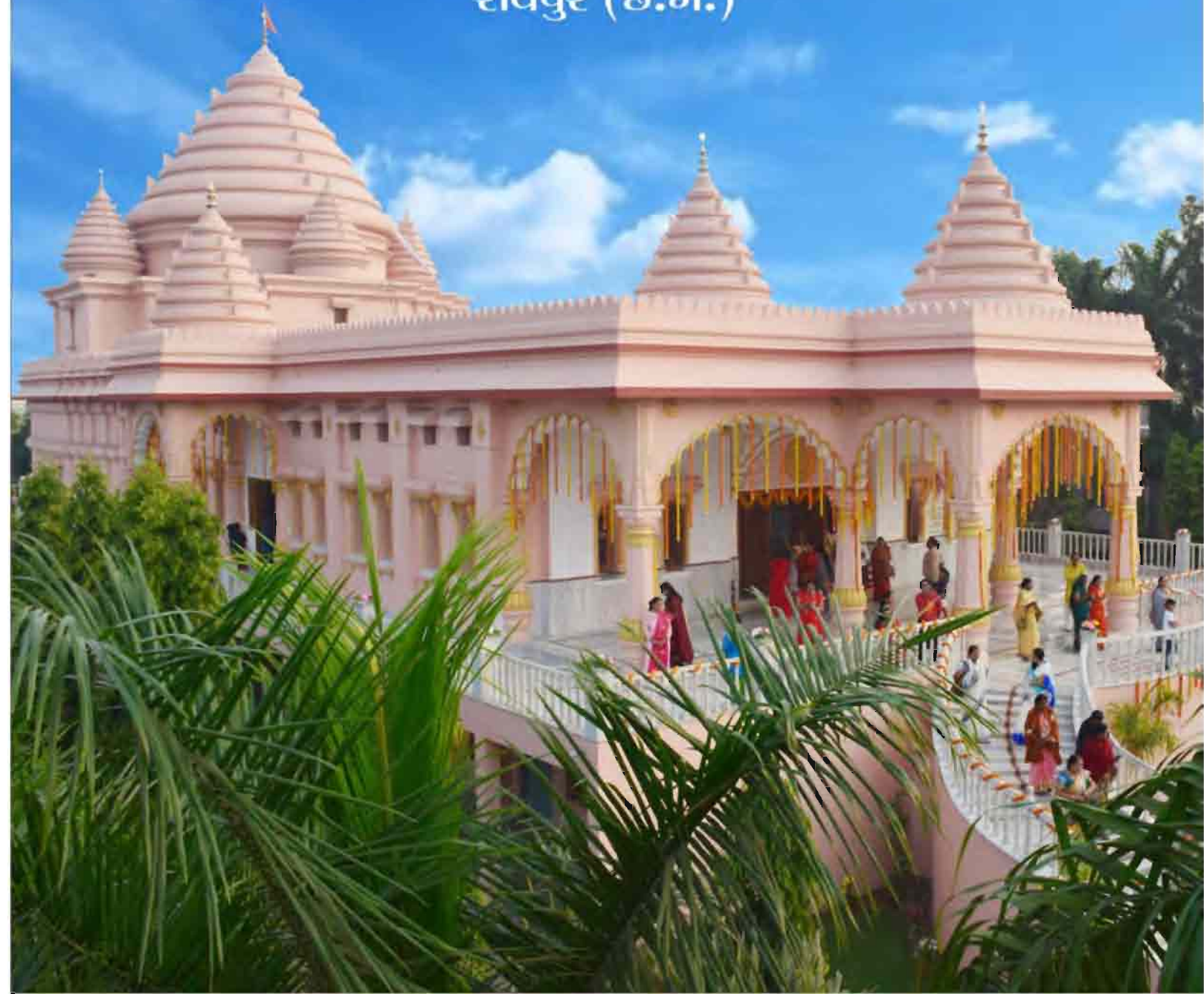
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०२०

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी पद्माक्षानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५८
अंक ६

वार्षिक १६०/– **एक प्रति १७/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ८००/–
१० वर्षों के लिए – रु. १६००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस., व्हाट्सएप अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ५० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए २५० यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक रु. २००/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. १०००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

ISSN 2582-0656

जून माह के जयन्ती और त्योहार

०१ गंगा जयन्ती

०५ कबीर जयन्ती

२३ जगन्नाथ रथयात्रा

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

आवरण पृष्ठ में प्रकाशित चित्र रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के अन्तर्गत विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर, छतीसगढ़ में सद्य नव-निर्मित मन्दिर का है। इस मन्दिर का उद्घाटन रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सह-संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्दजी महाराज ने २९ जनवरी, २०२० को श्रीमत् स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी महाराज के पुण्य-जन्मतिथि के दिन किया। विद्यापीठ की स्थापना डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने १९९४ में किया।

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री धनराज तुलसीराम चौधरी, नासिक (महा.)	१,०००/-
श्री प्रकाशचंद्र हीरालाल जी पाठक, बुलडाणा (महा.)	१,०००/-
श्रीमती चित्रा प्रभाकर देशपांडे, गंगापुर रोड, नासिक	१,०००/-
श्रीमती प्रभा हनुमंत कुलकर्णी, नासिक	१,०००/-
...	१,०००/-

विवेक-ज्योति के सदस्य बनाएँ

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण और विश्ववन्द्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इससे गत एक शताब्दी से भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हो रहा है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द, आदि कालजयी विभूतियों के जीवन और कार्य अल्पकालिक होते हुए भी शाश्वत प्रभावकारी एवं प्रेरक होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण करते हैं। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा नित्य उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्ववासियों में परस्पर सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सार्वजनीन उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से 'विवेक-ज्योति' पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था, जो १९९९ से मासिक होकर गत ५७ वर्षों से निरन्तर प्रज्वलित रहकर भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती आ रही है। आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। **— व्यवस्थापक**

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

क्रमांक	विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
६०३.	श्री गुरु गौतम, कांदीवली (ई), मुम्बई (महाराष्ट्र)	कमला राय कॉलेज, गोपालगंज (बिहार)
६०४.	श्री रामगोपाल मोहता, मालाबार हिल्स, मुम्बई (महाराष्ट्र)	राजेश्वरी देवी रामशुभग सिंह कॉलेज, देवरिया (उ.प्र.)
६०५.	,, ,,	आचार्य नरेन्द्रदेव इंटर कॉलेज, पथरदेवा, देवरिया (उ.प्र.)
६०६.	,, ,,	मुखीराम इंटर कॉलेज, थावे, गोपालगंज (बिहार)

वर्ष ५८ जून २०२० अंक ६

गंगा वन्दना

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि
जटावल्लिमुल्लासयन्ती
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरी–
गुहागण्डशैलात्स्खलन्ती ।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचय-
चमुर्निर्भरं भर्त्सयन्ती
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगर-
सरित्पावनी नः पुनातु ।।

– ब्रह्माण्ड को फोड़कर निकलनेवाली, शिवजी की जटा-लता को उल्लसित करती हुई, स्वर्गलोक से गिरती हुई, सुमेरु की गुफा और पर्वतमाला से झड़ती हुई, पृथ्वी पर लोटती हुई, पापों की सेना को कड़ी फटकारती हुई, समुद्र को भरती हुई, देवपुरी की पवित्र नदी गंगा हमें पवित्र करे। (शंकराचार्यविरचितम्)

पुरखों की थाती

यथा धेनु-सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्व-कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।६८४।।

– जैसे एक बछड़ा हजारों गायों के बीच भी अपनी माँ को पहचान लेता है, वैसे ही व्यक्ति द्वारा पहले किये गये कर्म (पाप तथा पुण्य) उसके पीछे-पीछे चलते हैं। (महाभारत)

कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति।।६८५।।

– कंजूस के समान दानी न कोई हुआ है और न भविष्य में होगा, क्योंकि वह तो बिना स्पर्श किये ही अपनी समस्त धन-सम्पदा दूसरों को प्रदान कर डालता है।

प्रिय-वाक्य-प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति मानवाः ।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।६८६।।

– मधुर वाणी बोलने से सभी प्राणी सन्तुष्ट हो जाते हैं, अतः वैसी ही वाणी बोलना उचित है, क्योंकि प्रिय वाणी बोलने में भला कृपणता क्यों दिखाना!

नान्नोदक-समं दानं न तिथिर्द्वादशी समा।
न गायत्र्याः परो मंत्रो न मातुर्दैवतं परम्।।६८७।।

– अन्न तथा जल के दान जैसा दूसरा कोई भी दान नहीं है, द्वादशी के जैसी कोई अन्य तिथि नहीं है, गायत्री से बढ़कर कोई दूसरा मंत्र नहीं है और माता से उत्तम कोई अन्य देवता नहीं है।

परमानन्द अमृतसिन्धु के अनुसन्धान में ...

विडम्बना ही तो है!

व्यक्ति सुख चाहता है, किन्तु सुखप्रद उपकरणों की अवहेलना कर दुखप्रद उपकरणों का संचय करता है, उसको ग्रहण करता है। मानव शान्ति चाहता है, किन्तु शान्तिदायक वस्तुओं का त्याग कर अशान्तिदायक वस्तुओं को स्वीकार करता है। मनुष्य आनन्द-प्राप्ति की इच्छा रखता है, किन्तु आनन्द प्रदान करनेवाले वस्तुओं, तत्त्वों से सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। इसके विपरीत दुखप्रद वस्तुओं से सम्बद्ध हो कष्ट भोगता है। कोई-कोई तो दुख में सुख को खोजते हैं। क्षणभंगुर दुखदायी वस्तुओं में शाश्वत सुख प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और सुख न मिलने पर व्यक्ति, समाज, परिस्थितियाँ और ईश्वर पर दोषारोपण करते हैं। कैसी विडम्बना है!

यदि व्यक्ति मध्याह्न के प्रखर सूर्य में पूर्णमासी के चन्द्रमा को देखना चाहे, उसकी शीतलता का अनुभव करना चाहे और अमावस्या की मध्य रात्रि में प्रखर सूर्य को देखना चाहे, उसके ताप का अनुभव करना चाहे, तो यह किसका दोष है? यह तो विडम्बना ही है!

बहुत से लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं, किन्तु ईश्वर की कृपा अवश्य चाहते हैं। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उनसे सम्बद्ध होनेवाले नियम-संयम, विधि-विधान का अभ्यास नहीं करते, ईश्वरप्राप्ति हेतु साधन-भजन नहीं करते, विषय-वासनाओं की ज्वाला में सदा जलते रहते हैं, किन्तु ईश्वरानुरागी भक्तों के जीवन में प्राप्त सुख-शान्ति की लालसा रखते हैं। क्या यह सम्भव है? श्रीरामचरित-मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कहा –

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहीं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम।।

मानव शान्ति चाहता है, किन्तु शान्ति के स्रोत को नहीं मानता। मानव सुख चाहता है, किन्तु सुख की खोज नहीं करता। वह दुखोपकरण जुटाने में अधिक व्यस्त रहता है। मानव आनन्द चाहता है, किन्तु क्लेश-कष्टप्रद वस्तुओं के अन्वेषण में निरत रहता है। यदि ऐसी मन:स्थिति, विभ्रान्ति, व्यर्थ भ्रमण और विक्षिप्तता में उसे सुख-शान्ति और आनन्द न मिले, तो इसमें किसका दोष है? क्या यह विडम्बना नहीं है?

शास्त्रों में ईश्वर को नहीं माननेवालों को नास्तिक नहीं कहा गया। बहुत से ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु उन्हें नास्तिक नहीं कहा गया। ईश्वरप्रतिपादक आदिग्रन्थ वेद के निन्दकों को नास्तिक कहा गया – नास्तिको वेद निन्दक:। वेद को किसी ने नहीं लिखा। वेद को वेदपुरुष, वेद-भगवान कहा जाता है। ऋषियों ने वेदमन्त्रों को देखा – **ऋषय: मन्त्रद्रष्टार:**। ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं, मन्त्रस्रष्टा नहीं। हमारे सनातन धर्म में ऐसे वेद-भगवान हैं। हिन्दू धर्म को ऐसा वेदग्रन्थ प्राप्त है। वेद हमारी विरासत हैं। वेदों ने अपनी ऋचाओं के द्वारा परमात्मा का गायन किया है।

शान्ति कैसे मिलेगी?

ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा और आचार्यों ने मुक्त कंठ से कहा है कि बिना परमेश्वरप्राप्ति के, बिना ईश्वरानुभूति के जीवन में स्थायी सच्चा सुख नहीं मिल सकता, शान्ति नहीं मिल सकती। गोस्वामीजी ने घोषणा की –

राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।

परम सत्ता के प्रतिपादक ऐसे परम पावन ग्रन्थ वेद ने परमात्म-अमृत के अन्वेषण हेतु अधिकारी भेद से विभिन्न पथों का निदर्शन किया है, परमात्मपदाभिलाषियों हेतु आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन किया है।

उपनिषद के ऋषियों ने मानव जाति को **'श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा:'** अमृतपुत्र से सम्बोधित किया है। इसकी अनुभूतिभूमि पर अवस्थित होकर स्वामी विवेकानन्द जी ने सबको 'अमृतसन्तान' से आह्वान किया था। परमात्मा अमृतसिन्धु हैं। हम उसी परमात्मा की सन्तान हैं। इसलिए हम अमृतसन्तान हैं। वह शाश्वत परमात्मा नित्य, अखंड, अभेद, निरंजन, चैतन्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। उस परमात्मा की अनुभूति किये बिना हमें शाश्वत सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। उस परमात्मा को अपने अन्त:करण

में अनुभूति करने के प्रयास को साधना कहते हैं।

अमृतसिन्धु का अनुसन्धान तो करना ही होगा

जिस प्रकार हम अपने भावी जीवन में उपयोगी समझकर शिक्षाप्राप्ति हेतु अच्छे शिक्षालयों, सुयोग्य अध्यापकों की खोज करते हैं, अच्छे कोचिंग सेन्टरों को खोजते हैं। सच्चरित्र-निर्माणकारी सदाचारी वातावरण की खोज करते हैं। संगीत-कला में निपुण होने के लिये संगीत के जिज्ञासु कुशल संगीतज्ञ के निर्देशन में रहकर संगीत विद्या सीखना चाहते हैं। विभिन्न कलाओं के शिक्षार्थी उनसे सम्बन्धित कुशल कलाकारों से युक्त शिक्षणालयों की खोज करके वहाँ प्रवेश लेते हैं। व्यवसायी कुशल व्यापार-प्रबन्धक की खोज करता है। उसी प्रकार हमें भी अपने जीवन के लिए परम उपयोगी समझकर उस अमृत-तत्त्व का अनुसन्धान करना होगा, उस अमृत-तत्त्वज्ञ की गवेषणा करनी होगी।

यमराज और नचिकेता

कठोपनिषद में यमराज ने नचिकेता की बड़ी प्रशंसा की। क्यों प्रशंसा की? कहते हैं –

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।

– हे नचिकेता! तुमने उस पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरा आदि प्रियरूप भोगों को, उनका असारत्व चिन्तन करके त्याग दिया है और जिसमें बहुत से मानव डूब जाते हैं, उस धनप्राय: निन्दित गति को प्राप्त नहीं हुआ।

‘**विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये**’ – नचिकेता मैं तुम्हें विद्याभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुम्हें बहुत से भोगों ने भी नहीं लुभाया। उसके बाद कहते हैं कि ‘**आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः**’ – कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य है, विलक्षण है।

अत: परमानन्द-अमृत-सिन्धु की अनुभूति करने के अभिलाषी साधक को वेद, शास्त्र, ऋषि, अवतार, आचार्य, सन्त-महात्माओं पर श्रद्धा-विश्वास के साथ उनके द्वारा निर्देशित पथ पर अग्रसर होना चाहिए। अपने सद्गुरु की छत्रछाया में, उनके मार्गदर्शन और सान्निध्य में, साधना करनी चाहिए। ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए। क्योंकि इस परमानन्द अमृत की कुंजी तो सद्गुरुदेव के पास ही रहती है। ○○○

तृप्ति का बोध

सन्तोष मालवीय (मध्यप्रदेश)

परोपकार ही जीवन है, यह सरिता से सीखो, नदी निरन्तर बहती रहती है, कितना परोपकार करती है, कभी ठहरना, पीछे मुड़कर देखना उसे नहीं आता, जहाँ-जहाँ से नदी गुजरती, वहाँ-वहाँ जीवन बन जाता, तीर्थ बन जाते।

बहती नदी से किसी ने कहा – तुम परोपकारी जीवन बिताते हुए आगे बढ़ती जाती हो। तुम और अधिक परोपकारी बन सकती हो, जब तुम रेगिस्तान से गुजरो।

नदी ने कहा – आगे बढ़ना ही मेरा जीवन है। प्यास बुझाना मेरा धर्म और कर्तव्य है। जो मेरे समीप आते हैं, मैं उनकी प्यास बुझाती हूँ, जो रेगिस्तान में हैं, वे मेरे समीप आकर जलामृत पान कर सकते हैं। नदी ने आगे कहा मैं निरन्तर आगे ही आगे इसलिए बढ़ती हूँ, क्योंकि मुझे भी अपनी प्यास बुझानी है। लोग मेरा जल पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं और मैं समुद्र से मिलकर अपनी प्यास बुझाती हूँ। मैं जब तक सागर से मिलकर एकाकार नहीं होती, तब तक मुझे सच्ची और सम्पूर्ण तृप्ति नहीं होती और मेरी यात्रा निर्बाध जारी रहती है।

जीव-सरिता जब तक ब्रह्म-सागर से मिलकर परिपूर्ण न हो जाए, तब तक जीवन-यात्रा जारी रहती है। व्यक्ति के जीवन का अन्ततोगत्वा एक मात्र लक्ष्य – ईश्वर से एकाकार कर पूर्णता प्राप्त करना है। ○○○

श्रीरामकृष्ण और चैतन्यदेव : एक रूप तुम भ्राता दोऊ

स्वामी ओजोमयानन्द

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा

रामायण में उल्लेख आता है कि सुग्रीव और बाली के रूप में इतनी समानता थी कि श्रीरामचन्द्र कहते हैं – 'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ'।[१] अर्थात तुम दोनों भाइयों के रूप में इतनी समानता है कि तुम दोनों में भेद कर पाना असम्भव है। उसी प्रकार हमारे इस विषय में बाह्य रूप में तो नहीं, पर श्रीरामकृष्ण देव और श्रीचैतन्य महाप्रभु के भाव रूपों में अत्यन्त समानता स्पष्ट प्रकट होती है। इस लेख के माध्यम से हम उन्हीं तथ्यों का तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

प्रथम उद्घोषिका – इन दोनों अवतारों की समानता का विचार नया नहीं है। श्रीरामकृष्ण और श्रीचैतन्य देव की समानता का पहलू सार्वजनिक रूप से सर्वप्रथम भैरवी ब्राह्मणी ने दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने यह तथ्य स्वयं श्रीरामकृष्णदेव तथा उस समय के विभिन्न पण्डितों के समक्ष एक सभा में रखा था। श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग में इसका उल्लेख कुछ इस प्रकार मिलता है – "श्रीरामकृष्णदेव की बातें सुनकर इसके पूर्व ब्राह्मणी (भैरवी) को ऐसा प्रतीत हुआ था कि असाधारण ईश्वर प्रेम के कारण ही उनको अलौकिक दर्शन प्राप्त होते रहे हैं तथा उनकी इस प्रकार की अवस्था उपस्थित हुई है। भगवच्चर्चा करते हुए भाव समाधि में निमग्न हो बार-बार उनके बाह्य ज्ञान का लोप हो जाना तथा कीर्तन में उनकी आनन्द-विह्वलता को देखकर भैरवी के हृदय में यह धारणा हुई कि वे साधारण साधक नहीं हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृत तथा श्रीचैतन्यभागवत आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव को जीवों के उद्धार के निमित्त पुन: शरीर धारण कर अवतीर्ण होने का जो संकेत विद्यमान है, श्रीरामकृष्ण देव को देखकर ब्राह्मणी के मन में वे बातें बारम्बार उदित होने लगीं। इस विदुषी ब्राह्मणी को इन ग्रन्थों में महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव एवं श्रीनित्यानन्द के बारे में जो बातें लिपिबद्ध देखने को मिली थीं, उनके साथ उन्हें श्रीरामकृष्ण के आचार-व्यवहार तथा अलौकिक दर्शनादि का सादृश्य दिखायी दिया। श्रीचैतन्यदेव के समान भावावेश में स्पर्श कर दूसरे के मन में धर्मभाव जागृत करने की शक्ति उन्हें श्रीरामकृष्ण देव में दिखायी दी तथा ईश्वर-विरह-विधुर श्रीचैतन्यदेव के शरीर में गात्रदाह होने पर स्रक-चन्दनादि जिन वस्तुओं से वह गात्रदाह प्रशमित होने की प्रसिद्धि है, श्रीरामकृष्ण देव के गात्रदाह प्रशमनार्थ उन वस्तुओं के प्रयोग से उन्हें भी तदनुरूप फल प्राप्त हुआ। इसलिए उनके मन

में तब से यह धारणा हुई कि श्रीचैतन्य देव के शरीर तथा मन को आश्रय कर पुन: पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। ... श्रीमद्भागवत में चौबीस अवतारों का वर्णन करने के पश्चात् व्यासदेव ने तो असंख्य बार श्रीहरि के अवतीर्ण होने की बात कही है? वैष्णवों के ग्रन्थों में भी महाप्रभु के पुन: आविर्भाव का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्य देव के साथ (श्रीरामकृष्ण देव को दिखाकर) इनके शरीर तथा मन में प्रकटित लक्षणों का विशेष सादृश्य भी देखने को मिलता है।'[२]

तत्कालीन पण्डितों का सिद्धान्त – श्रीरामकृष्णदेव और श्रीचैतन्य के मध्य समानता का तथ्य भैरवी ब्राह्मणी के प्रकटीकरण के साथ ही समाप्त नहीं हो गया, बल्कि तत्पश्चात् श्री मथुर बाबू ने उस समय के प्रसिद्ध पंडितों की सभा बुलाई। जिसमें तत्कालीन पंडितों ने श्रीरामकृष्ण में श्रीचैतन्यदेव जैसी समानताओं को स्वीकार करते हुए उन्हें अवतार भी माना। उन पंडितों के मतों में से श्री वैष्णवचरण का सिद्धान्त हमारे विषय के लिए अत्यन्त प्रासंगिक होने के कारण, हम यहाँ उसका उल्लेख कर रहे हैं –''श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में ब्राह्मणी की समस्त बातों का उन्होंने हृदय से समर्थन किया था, वह हमने श्रीरामकृष्णदेव के श्रीमुख से सुना है। इतना ही नहीं, वैष्णवचरण ने यहाँ तक कहा था कि जिन मुख्य-मुख्य उन्नीस प्रकार के भावों या अवस्थाओं के सम्मिलन का भक्तिशास्त्र में 'महाभाव' कहकर निर्देश किया गया है एवं जिसका विकास अभी तक केवल भावमयी श्रीराधारानी तथा भगवान श्रीचैतन्यदेव के जीवन में ही देखा गया है, आश्चर्य है कि वे सारे लक्षण (श्रीरामकृष्ण देव को दिखाकर) इनके भीतर प्रकट हुए प्रतीत हो रहे हैं। जीव के लिए सौभाग्यवश यदि जीवन में कभी महाभाव के आभास का उदय हो, तो उन उन्नीस प्रकार की अवस्थाओं में से अधिक-से-अधिक दो-चार अवस्थाएँ ही प्रकट होती हैं। जीव का शरीर इन उन्नीस प्रकार के भावों के प्रचण्ड वेग को धारण करने में कभी भी समर्थ नहीं हुआ है तथा शास्त्र का कथन है, आगे भी धारण करने में कभी समर्थ न होगा। मथुरबाबू आदि जो लोग वहाँ उपस्थित थे, वे सभी वैष्णवचरण की बात को सुनकर अवाक् रह गये।''[३]

यूँ तो श्रीरामकृष्ण देव और श्रीचैतन्यदेव में अनेक समानताएँ हैं, पर फिर भी हम इन दोनों के भावों की समानताओं का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहेंगे और उसमें भी हम उन तथ्यों का अन्वेषण पहले करना चाहेंगे, जिसका संकेत भैरवी ब्राह्मणी ने किया था।

व्याकुलता – इन दोनों ही महापुरुषों के जीवन में साधना की व्याकुलता में अत्यन्त सादृश्य मिलता है। श्री ईश्वरपुरी ने श्रीचैतन्यदेव को मन्त्र-दीक्षा दी, तत्पश्चात उनकी व्याकुलता का विवरण कुछ इस प्रकार मिलता है – इधर प्रात:काल निमाई पण्डित उठे। लोगों ने देखा उनके शरीर का सारा कपड़ा आँसुओं से भीगा हुआ है, वे क्षणभर के लिए भी रात्रि में नहीं सोये थे। रातभर 'हा कृष्ण! मेरे प्यारे! हे पिताजी! मुझे छोड़कर किधर चले गये?' इसी प्रकार विरहयुक्त वाक्यों के द्वारा रुदन करते रहे। उनकी ऐसी विचित्र अवस्था देखकर साथियों ने गयाजी में अब अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। उनके शिष्य उन्हें बड़ी सावधानी के साथ इनके शरीर को सँभालते हुए नवद्वीप की ओर ले चले। ये किसी अचेतन पदार्थ की भाँति शिष्यों के सहारे चलने लगे। शरीर का कुछ भी होश नहीं है। कभी-कभी होश में आ जाते हैं, फिर जोरों से चिल्ला उठते हैं, 'हा कृष्ण! किधर चले गये, प्राणनाथ रक्षा करो! पतित पावन! इस पापी का भी उद्धार करो!' .... प्रभु अंतिम शब्दों को ठीक-ठीक कह भी नहीं पाये थे कि वे बीच में ही बेहोश होकर गिर पड़े। लोगों को इनकी ऐसी दशा देकर महान आश्चर्य हुआ। सभी भौचक्के से एक-दूसरे की ओर देखने लगे। तीन महीने पहले उन्होंने जिस निमाई को देखा था, आज उसे इस प्रकार प्रेम में विह्वल देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। निमाई लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे। उनकी आँखों से निरन्तर अश्रु निकल रहे थे, शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। थोड़ी देर में वे 'हा कृष्ण! हा प्राणनाथ! प्यारे! ओ मेरे प्यारे! मुझे छोड़कर कहाँ चले गये? यह कहते-कहते बहुत जोरों के साथ रुदन करने लगे'।[४]

श्रीरामकृष्ण देव भी अपने साधना काल में इसी प्रकार ही व्याकुल हो उठते थे। श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंगकार इसका वर्णन कुछ ऐसे करते हैं – ''जैसे-जैसे दिन व्यतीत होने लगे, श्रीरामकृष्णदेव के हृदय की अनुरक्ति तथा व्याकुलता भी उसी प्रकार वर्धित होने लगी तथा इस प्रकार अविश्रान्त रूप से एक ओर मन की गति होने के कारण उनके शरीर में भी नाना प्रकार के बाह्य लक्षण प्रकट होने लगे। उनके आहार, निद्रा आदि कम हो गये। शरीर का रक्त-प्रवाह, वक्ष:स्थल तथा मस्तिष्क में निरन्तर द्रुतगति से प्रवाहित होने

के कारण उनका वक्ष:स्थल सदा आरक्त रहने लगा, उनकी आँखें बीच-बीच में अश्रुसिक्त होने लगीं, तथा भगवद्दर्शन के निमित्त अत्यन्त व्याकुलता जनित 'क्या करूँ, कैसे दर्शन प्राप्त हो' – इस प्रकार की चिन्ता निरन्तर उनके भीतर विद्यमान रहने लगी। फलस्वरूप ध्यान-पूजनादि के समय को छोड़कर शेष समय में उनके शरीर में एक प्रकार की अशान्ति तथा व्यग्रता दिखायी देने लगी।

''... वे कहते थे – माँ का दर्शन न मिलने से उस समय मेरे हृदय में असह्य यातना थी, जलरहित करने के लिए लोग जिस प्रकार बलपूर्वक अँगौछे को निचोड़ते रहते हैं, मुझे भी तब ऐसा ही प्रतीत हुआ, मानो मेरे हृदय को पकड़कर कोई वैसे ही निचोड़ रहा है। माँ का दर्शन सम्भवत: मुझे कभी भी प्राप्त न होगा। यह सोचकर वेदना से मैं तड़पने लगा।''[५]

गात्रदाह – ''(भैरवी) ब्राह्मणी के आगमन के कुछ दिन पहले से ही श्रीरामकृष्ण देव गात्रदाह से बहुत कष्ट अनुभव कर रहे थे। उस दाह को दूर करने के लिये बहुत-सी चेष्टाएँ की गयीं, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। श्रीरामकृष्णदेव के श्रीमुख से हमने सुना है कि सूर्योदय के बाद ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता, त्यों-त्यों वह दाह बढ़ने लगती। दोपहर को वह इतनी असहनीय हो उठती थी कि गंगाजल में अपना शरीर डूबोकर माथे पर एक भीगा हुआ अंगौछा रख दो-तीन घण्टे तक जल में बैठे रहना पड़ता था। परन्तु इतनी देर तक जल में पड़े रहने से कहीं अधिक ठण्ड लगकर कोई और रोग न हो जाय, इसलिए इच्छा न होते हुए भी वे जल से उठ आते और बाबू लोगों की कोठी के संगमरमर के फर्श को गीले कपड़े से पोंछकर चारों ओर से दरवाजे बंद कर फर्श पर लोटते रहते थे।

''श्रीरामकृष्ण देव की ऐसी स्थिति के सम्बन्ध में सुनते ही ब्राह्मणी की धारणा कुछ और ही हुई। उन्होंने कहा कि यह रोग नहीं है, श्रीरामकृष्णदेव के मन की प्रबल आध्यात्मिकता एवं ईश्वरानुराग के फलस्वरूप उनकी यह अवस्था हुई है। उन्होंने बतलाया कि श्रीराधारानी तथा श्रीचैतन्यदेव के जीवन में भी ईश्वर-दर्शन की प्रचण्ड व्याकुलता से शरीर में इस प्रकार के विकार-लक्षण बहुधा उपस्थित हुआ करते थे। इस रोग की दवा भी अर्पूव है – ऐसी स्थिति में सुगन्धित पुष्पों का माल्यधारण तथा सर्वांग पर सुवासित चंदन का लेपन किया जाता है। ... अत: ब्राह्मणी के कथनानुसार श्रीरामकृष्ण देव के शरीर पर चन्दनलेप किया गया तथा उन्हें पुष्पमालाओं से विभूषित किया गया। तीन दिन तक इस प्रकार किये जाने पर देखा गया कि सचमुच उनकी गात्रदाह एकदम दूर हो चुकी है। इससे सब लोग आश्चर्यचकित हो गये।[६]

आहार – श्रीचैतन्य देव और श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में आहार रूपी समानता भी पायी जाती है। ये दोनों महापुरुष ही एक साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक आहार कर सकते थे, यद्यपि ये दोनों ही अपने लीला संवरण से पूर्व अल्प भोजन ही ग्रहण किया करते थे।

कुछ वैष्णव भक्त पुरी आये हैं और साथ में महाप्रभु हेतु कुछ प्रसाद द्रव्य लाये हैं। वे उसे महाप्रभु के सेवक गोविंद को देकर कहते हैं कि इसे महाप्रभु ग्रहण करें। परन्तु महाप्रभु को वे जब भी देते, तो वे उसे रख देने को कहते। इस प्रकार कमरे का एक भाग उन द्रव्यों से भर गया। तब गोविंद ने महाप्रभु से कहा कि भक्तगण आपके लिए इतना कुछ दे गये हैं और वे बार-बार पूछते हैं कि आपने उसे ग्रहण किया या नहीं? तब महाप्रभु ने कहा, तुम ले आओ, मैं खाऊँगा। चैतन्यचरितामृत में उल्लेख है –

शतजनेर भक्ष्य प्रभु दण्डे के खाइलो।
आर किछु आछे? बोलि गोविन्द पूछिलो।।[७]

भावार्थ : सौ लोगों का भोजन ग्रहण करके महाप्रभु सेवक गोविन्द से पूछ रहे हैं कि और कुछ खाने का है क्या?

कुछ इसी प्रकार की घटना लीलाप्रसंग में हम पाते हैं – 'श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, ''उस समय मुझमें एक विपरीत क्षुधा का उद्रेक हुआ था। चाहे कितना भी मैं क्यों न खाऊँ, किन्तु मेरा पेट ही नहीं भरता था। खाकर उठते ही फिर से भूख सताने लगती, मानों मैंने कुछ भी नहीं खाया है। हमेशा खाने की इच्छा होती, उसका विराम नहीं था। मैंने सोचा कि मुझे यह क्या रोग हो गया है? मैंने ब्राह्मणी से कहा, उसने उत्तर दिया – ''बाबा, डरने की कोई बात नहीं, ईश्वर-पथ के पथिकों की कभी-कभी ऐसी अवस्था हो जाती है, शास्त्र में इसका उल्लेख है; तुम्हारी इस स्थिति को मैं ठीक किये दे रही हूँ।'' तदनन्तर उसने मथुरबाबू से कहकर चिवड़ा, लाई आदि से लेकर मिठाई, रसगुल्ला, पूड़ी, इत्यादि जितने भी प्रकार के भोज्य पदार्थ हैं, सब मँगवाकर एक कमरे के भीतर भली-भाँति सजाकर रखे और मुझसे कहा, 'बाबा, तुम इसी कमरे में दिन-रात रहो और जब मन में आये, सो चाहे जितना खाते जाओ।'

"... योग या ईश्वर में मन के तन्मय होकर अवस्थित रहने की स्थिति सहज बन जाने से पहले और कभी-कभी उसके बाद भी साधकों के जीवन में इस प्रकार विपरीत क्षुधादि के उद्रेक होने की बातें हमें सुनने को मिली हैं तथा श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में भी अनेक बार इसका परिचय प्राप्त कर हम अवाक् रह गये हैं। श्रीरामकृष्ण देव की जिस स्थिति को हमने स्वयं प्रत्यक्ष किया है, वह कुछ दूसरे ही प्रकार की थी। उस समय वे निरन्तर ऐसी क्षुधा से पीड़ित नहीं रहते थे। स्वाभाविक दशा में साधारणतया वे जिस प्रकार, भोजन किया करते, भावावस्था में वे उससे चौगुना या उससे भी अधिक भोजन कर लेते थे, परन्तु इससे उन्हें किसी प्रकार की शारीरिक अस्वस्थता नहीं होती थी, यह हमने स्वयं देखा है।"[८]

निद्रा – इन दोनों ही अवतारों की निद्रा अत्यन्त अल्प अवधि की हुआ करती थी। 'मेरा (महाप्रभु का) मन कृष्णरूपी निरंजन आत्मा को साक्षात् देखने के लिए रातभर जागकर ध्यान करता है। ...चैतन्य देव को निद्रा बहुत कम आती थी। उनकी रातों का अधिकांश भाग भजन-कीर्तन तथा ध्यान-धारणा में ही बीत जाता। अब उनकी निद्रा में और भी कमी आयी। स्वरूप उनके शरीर की हालत देखकर उनका स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका से, उनसे बारम्बार शिकायत करते और नियमित रूप से आहार तथा शयन करने का अनुरोध करते। इस पर प्रेमिक संन्यासी स्वरूप को गले से लगाकर प्रेमपूर्ण मधुर वाणी में कहते, 'प्यारे भाई, मैं क्या करूँ? मैं निरुपाय हूँ। मेरा मन अब मेरे अपने वश में नहीं रहा। मेरा शरीरालय शून्य पड़ा है। निरंजन आत्मा अर्थात् श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन करने की आकांक्षा से उनका ध्यान करते हुए ही महाप्रभु की रात बीत जाती और मन उन्हीं में पूर्णत: विलीन (अन्तर्दशा – निर्विकल्प समाधि) हो जाने के कारण आहार, निद्रा आदि बाह्य व्यवहार हो नहीं पाते थे।[९]

"श्रीषोडशी-पूजन के बाद श्रीमाँ सारदा देवी ने प्राय: पाँच महीने तक श्रीरामकृष्ण देव के समीप अवस्थान किया था। पहले की भाँति उस समय वे श्रीरामकृष्ण देव तथा उनकी जननी की सेवा में नियुक्त रहकर दिन का समय नौबतखाने में बिताकर रात में श्रीरामकृष्ण देव की शय्या में ही शयन करती थीं। दिन-रात श्रीरामकृष्ण देव भाव-समाधि में निमग्न रहते थे तथा कभी-कभी निर्विकल्प समाधि में उनका मन सहसा इस प्रकार विलीन हो जाता था कि उनके शरीर पर मृतक के लक्षण प्रकट होने लगते थे। श्रीरामकृष्ण देव को न जाने कब समाधि लग जाय, इस आशंका से श्रीमाँ को रात में नींद नहीं आती थी। बहुत देर तक समाधिस्थ रहने के बाद भी उनकी चेतना नहीं हो रही है, यह देखकर भयभीत हो क्या करना चाहिए, इसका निश्चय न कर पाने के कारण एक रात को उन्होंने हृदय तथा और लोगों को जगाया था। तदनन्तर हृदय ने आकर बहुत देर तक भगवन्नाम सुनाया। तत्पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव की समाधि भंग हुई।"[१०]

श्रीरामकृष्ण देव अपनी दिव्योन्माद अवस्था के विषय में कहते हैं – 'दिनरात अधिकांश समय माँ के किसी-न-किसी रूप का दर्शन पाकर मैं उस समय भूला रहता था, तभी मेरी रक्षा हुई है, अन्यथा (अपने शरीर को दिखाकर) इस चोले का रहना असम्भव था। उस समय से लेकर लगातार छह वर्ष पर्यन्त एक क्षण के लिये भी मुझे नींद नहीं आयी।'[११]

मधुर भाव – इन दोनों ही अवतारों में मधुर भाव की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है। इन दोनों के ही भावों में गोपी व श्रीमती राधा रानी के भावों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कामात्मिका तथा सम्बन्धात्मिका भक्ति के उन्नीस प्रकार के अन्तर्भावों का महाभाव में एकत्र समावेश होता है, जो कि इन दोनों अवतारों में ही देखा गया था।

महाप्रभु जब से गया से लौटकर आये थे, तभी से सदा प्रेम में छके-से, बाह्यज्ञानशून्य-से तथा बेसुध-से बने रहते थे, किन्तु भक्तों के साथ संकीर्तन करने में उन्हें अत्यधिक आनन्द आता। परन्तु काजी के उद्धार के अनन्तर प्रभु की प्रकृति में एकदम परिवर्तन दिखायी देने लगा। कभी राधा-भाव में भावित होकर रुदन करने लगते, कभी एकान्त में अपने कोमल कपोल को हथेली पर रखकर अन्यमनस्क भाव से अश्रु ही बहाते रहते। कभी राधा-भाव में अपने आप कहने लगते – 'हे कृष्ण! तुम इतने निष्ठुर हो, मैं नहीं जानती थी। मैं रास में तुम्हारी मीठी-मीठी बातों से छली गयी। मुझ भोली-भाली अबला को तुम इस प्रकार धोखा दोगे, इसका मुझे क्या पता था? हाय! मेरी बुद्धि पर तब न जाने क्यों पत्थर पड़ गये कि मैं तुम्हारी उन मीठी-मीठी बातों में आ गयी। कहाँ तुम अखिल ऐश्वर्य के स्वामी और कहाँ मैं एक वन में रहनेवाले ग्वाल की लड़की। तुमसे अनजान में स्नेह किया। हा प्राणनाथ! ये प्राण तो तुम्हारे लिए ही अर्पण हो चुके हैं। ये तो सदा तुम्हारे ही साथ रहेंगे, फिर यह शरीर चाहे कहीं भी पड़ा रहे। प्यारे! तुम कोमल हृदय के हो,
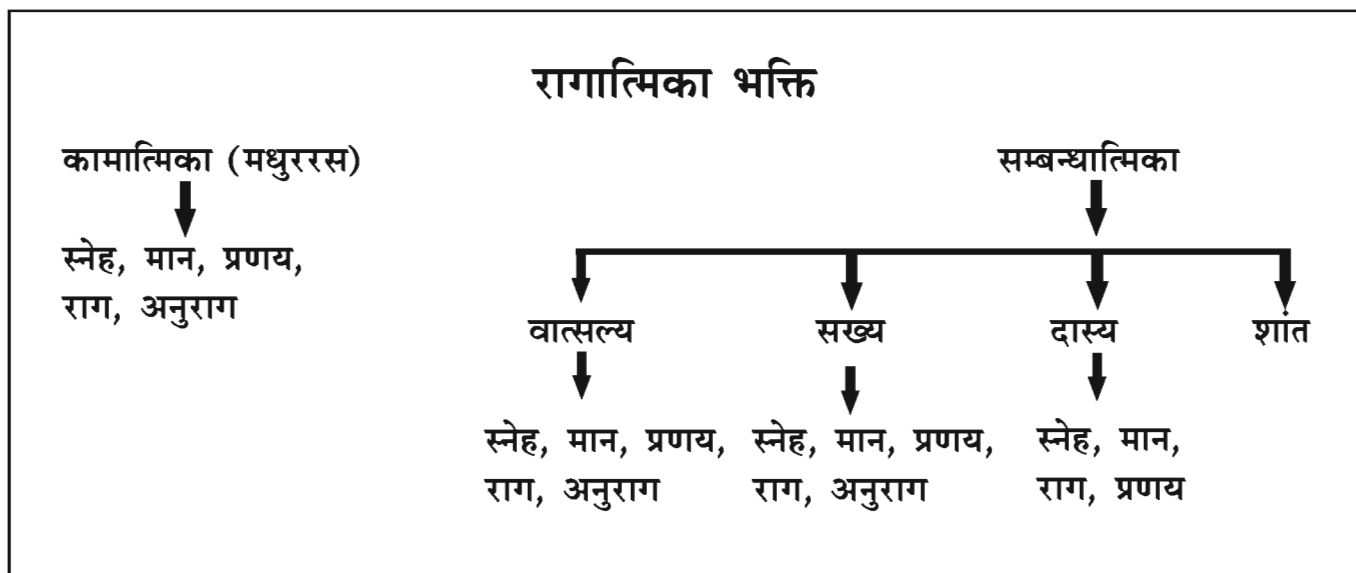
सरस हो, सरल हो, सुन्दर हो, फिर तुम मेरे लिये कठोर हृदय के निष्ठुर और वक्र स्वभाव वाले क्यों बन गये हो? मुझे इस प्रकार की विरह-वेदना पहुँचाने में तुम्हें क्या आनन्द मिलता है? इस प्रकार घंटों प्रलाप करते रहते।

कभी अक्रूर वृन्दावन में श्रीकृष्ण को लेने के लिये आये हैं और गोपियाँ भगवान के विरह में रुदन कर रही हैं। इसी भाव को स्मरण करके आप गोपी-भाव से कहने लगते 'हाय देव! तूने क्या किया? हमारे प्राण प्यारे, हमारे सम्पूर्ण ब्रज के दुलारे मनमोहन को तू हमसे पृथक् क्यों कर रहा है? हे निर्दयी विधाता! तेरी इस खोटी बुद्धि को बार-बार धिक्कार है, जो तू इस प्रकार प्रेमियों को मिलाकर फिर उन्हें विरह-सागर में डुबा-डुबाकर बुरी तरह से तड़पाता रहता है! हाय! प्यारे कृष्ण! अब चले ही जायेंगे क्या? क्या अब वह मुरली की मनोहर तान सुनने को न मिलेगी? क्या अब उस पीताम्बर की छटा दिखायी न पड़ेगी? क्या अब मोहन के मनोहर मुख को देखकर हम सम्पूर्ण दिन के दु:ख-संतापों को न भुला सकेंगी? क्या अब कृष्ण हमारे घर में माखन खाने नहीं आएँगे? क्या अब साँवरे की सलोनी सूरत को देखकर सुख के सागर में आनन्द की डुबकियाँ नहीं लगा सकेंगी? यह क्रूरकर्मा अक्रूर कहाँ से आ गया? इसका ऐसा उलटा नाम किसने रख दिया, जो हमसे हमारे प्राण प्यारे को अलग करेगा, उसे अक्रूर कौन कह सकता है? वह तो महाक्रूर है या यह सब विधाता की ही क्रूरता है। बेचारे अक्रूर का इसमें क्या दोष?' ऐसा कह-कहकर वे जोरों से चिल्लाते हैं।[१२]

वे कभी कृष्ण के भाव में होकर गोपों के साथ ब्रज की लीलाओं का अनुकरण करने लगते। कभी भावावेश में जोरो से 'गोपी-गोपी' कहकर रुदन किया करते। इस प्रकार वे जिस भाव में भावित होते, वैसा ही उनका स्वभाव हो जाता। यहाँ तक कि राधारानी के भाव होने पर वे श्रीराधारानी की भाँति ही व्यवहार करने लगते थे। उनके विरह उन्माद की सीमा नहीं रहती थी तथा उनके रोमों से रक्त प्रवाहित होने लगते थे। इस प्रकार के विभिन्न विवरण हम श्रीचैतन्य-चरितामृत और श्रीचैतन्यभागवत में भी पाते हैं, पर विषय की बृहत्ता को देखते हुए हम उन सब का उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

भक्ति ग्रंथों के वर्णनानुसार केवल श्रीराधारानी ने ही अपने जीवन में यथार्थ अतीन्द्रिय प्रेम की पराकाष्ठा का अनुभव कर उसका आदर्श जगत में स्थापित किया था। उनके कामगंधरहित प्रेम के अनुरूप अथवा उसी प्रकार का प्रेमलाभ हुए बिना कोई कभी ईश्वर की पतिभाव से प्राप्ति तथा मधुरभाव के परिपूर्ण माधुर्य की उपलब्धि करने में समर्थ नहीं हो सकता। अत: लीलाप्रसंगकार श्रीचैतन्यदेव के सम्बन्ध में लिखते हैं – ''गौड़ीय वैष्णवाचार्यों का कथन है कि उसको समझाने के निमित्त ही श्रीभगवान को श्रीराधारानी के साथ एकीभूत होकर एकाधार में या एक शरीर का अवलम्बन कर पुन: अवतीर्ण होना पड़ा था। अन्त:कृष्ण बहिर्गौर रूप से प्रकटित श्रीगौरांगदेव ही मधुरभाव के प्रेमादर्श को प्रतिष्ठित करने के लिये आविर्भूत भगवान के वह अपूर्व विग्रह हैं। श्रीराधारानी के शरीर तथा मन में श्रीकृष्ण-प्रेम से जो लक्षण प्रकट होते थे, पुरुषशरीरधारी होने पर भी श्रीगौरांगदेव के

अन्दर ईश्वर-प्रेम के प्राबल्य से उन लक्षणों को आविर्भूत होते देखकर ही वैष्णवाचार्यों ने उन्हें श्रीराधारानी कहकर निर्देश किया था। अत: यह स्पष्ट है कि श्रीगौरांगदेव अतीन्द्रिय प्रेम के द्वितीय दृष्टान्तस्वरूप हैं।''[१३]

श्रीरामकृष्ण देव ने मधुर भाव की साधना की थी। इसके लिए उन्होंने उस समय एक रमणी का वेश धारण किया था। श्रीरामकृष्ण देव स्वयं यह कहा करते थे कि घृणा, लज्जा, भय तथा जन्मगत जाति, कुल, शील आदि अष्टपाशों का त्याग किये बिना कोई कभी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। उस शिक्षा का शरीर-मन-वाणी से अपने जीवन में उन्होंने स्वयं कहाँ तक पालन किया था, इस बात का परिचय उनके साधनाकालीन वेशभूषा से लगाकर उनके प्रत्येक कार्य का मनन करने से स्पष्टतया अनुभव किया जा सकता है। श्रीरामकृष्णदेव उन वेशभूषाओं को धारणकर कृष्णप्रेमी ब्रजरमणियों के भाव में क्रमश: इस प्रकार निमग्न हुए थे कि उनका पुरुषत्वबोध भी समूल नष्ट होकर उनका बोलचाल, उनका कार्यकलाप, इतना ही नहीं उनके विचार भी स्त्रियों के समान हो गये थे। इस प्रकार उन्होंने छ: मास रमणीवेश धारण किया था तथा इस बीच उन्हें पुरुष की भाँति पहचान पाना किसी के लिये भी सम्भव न था। ''श्रीकृष्ण-दर्शन तथा उनको अपने वल्लभ रूप से प्राप्त करने की अभिलाषा से श्रीरामकृष्ण देव अनन्यचित्त हो श्रीयुगल पादपद्मों की सेवा में रत हुए थे एवं साग्रह प्रार्थना तथा प्रतीक्षा में दिन व्यतीत कर रहे थे। चाहे दिन हो या रात, किसी भी समय उनकी हार्दिक व्याकुल प्रार्थना का विराम नहीं होता था तथा इस तरह दिन, पक्ष, महीना बीत जाने पर भी अविश्वासजनित निराशा कभी भी उपस्थित हो उन्हें अपनी प्रतीक्षा से तनिक भी विचलित नहीं कर पाती थी। क्रमश: वह प्रार्थना आकुल क्रन्दन में एवं वह प्रतीक्षा उन्मत्त की भाँति उत्कण्ठा तथा चंचलता में परिणत होने के कारण उनका आहार-निद्रादि विलुप्त हो चुका था। ... श्रीकृष्णविरह के प्रबल प्रभाव से उस समय उनके शरीर के रोमकूपों से समय-समय पर रक्त की बूँदें टपका करती थीं, शरीर की ग्रंथियाँ भग्नप्राय तथा शिथिल दिखायी देती थीं एवं हृदय की असह्य यातना से इंद्रियवर्ग के अपने-अपने कार्यों से एकदम विरत हो जाने के कारण उनका शरीर कभी-कभी मृत जैसा निश्चेष्ट तथा संज्ञाशून्य होकर पड़ा रहता था।''[१४]

श्रीराधारानी की कृपा के बिना श्रीकृष्णदर्शन असम्भव जानकर वे उनकी उपासना में प्रवृत्त हुए थे तथा श्रीराधारानी का दर्शन प्राप्त कर वे कृतार्थ हुए थे। उन्होंने कहा था कि श्रीराधारानी की अंगकान्ति 'नागकेशर' पुष्प के केसरों की भाँति गौरवर्ण था।

महाभाव की पराकाष्ठा – इस अवस्था में श्रीरामकृष्णदेव के रोमविवरों से रक्त की बूँदें टपका करती थीं। उस समय भ्रमवश भी उनमें पुरुष-ज्ञान का उदय नहीं होता था। स्वाधिष्ठान चक्रवाले भाग के सभी रोमकूपों से उन दिनों उनका प्रतिमास नियत समय पर बिन्दु-बिन्दु शोणितश्राव होता था तथा स्त्री-शरीर की तरह प्रत्येक बार तीन दिन तक वह जारी रहता था।

श्रीराधारानी की कृपा के पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण का पुनीत दर्शन किया था। श्रीरामकृष्ण देव जब किसी देव-देवी का दर्शन करते थे, तब वे देव-देवी मूर्तियाँ उनके श्रीअंगों में समाहित हो जाया करती थीं। अत: उसी प्रकार ही श्रीराधारानी तथा श्रीकृष्ण के दर्शन के पश्चात् वे मूर्तियाँ भी उनके श्री अंगों में मिल गई थीं। उस समय श्रीकृष्ण के चिन्तन में एकदम तन्मय होकर अपने पृथक् अस्तित्वबोध को भूलकर उन्होंने कभी अपने को श्रीकृष्ण रूप से अनुभव किया था और कभी आब्रह्मस्तम्बनपर्यन्त सभी का श्रीकृष्णविग्रह के रूप में दर्शन किया था। इसके अलावा उस समय के एक दर्शन से उनकी यह दृढ़ धारणा हुई थी कि 'भागवत (शास्त्र), भक्त और भगवान तीनों एक हैं तथा एक ही तीन हैं। **(क्रमश:)**

सन्दर्भ : १. श्रीरामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, ७/५, **२.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-१, पृ. २०९-२०११, **३.** वही, खण्ड-२. पृ. ५६१, **४.** श्रीश्रीचैतन्यचरितावली, गीताप्रेस, पृष्ठ-१११-१२, **५.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-१, पृ. १५७-१५८, **६.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-२, पृ. ५५३-५४, **७.** श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत, ३/१०, **८.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-२, पृ. ५५४-५५, **९.** श्रीचैतन्यमहाप्रभु (स्वामी सारदेशानन्द) ३३८-३३९, **१०.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-१, पृ. ३२३, **११.** वही, खण्ड-१, पृ. २०१, **१२.** श्रीश्रीचैतन्यचरितावली, गीताप्रेस, पृष्ठ-२६०-२६१, **१३.** श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खण्ड-१, पृ २६१-२६२, **१४.** वही, खण्ड-१/२६०-२६१.

मन को यदि कुसंग में रखोगे तो वैसी ही सब बातचीत, वैसी ही विचारधारा हो जायेगी। यदि भक्तों के संग में रखोगे तो वह ईश्वर चिन्तन, भगवत्चर्चा यही सब लेकर रहेगा। – श्रीरामकृष्णदेव

यथार्थ शरणागति का स्वरूप (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय
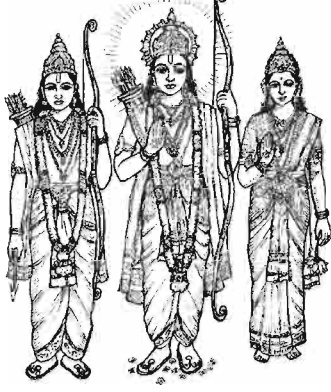
(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलेखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है । – सं.)

प्रसंग के प्रारम्भ करने से पहले मैं परम श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्द जी का आभारी हूँ कि उन्होंने मानस रोग के रूप में प्रस्तुत की गई पुस्तक को लोकार्पण के रूप में आपके समक्ष रखा। यह पहला ग्रंथ है, जिसे लोकार्पण के रूप में सामने रखने की इच्छा हुई। मैंने श्रद्धेय स्वामीजी महाराज से आग्रहपूर्वक निवेदन किया। उन्होंने कृपा करके स्वीकार किया। पर इस निवेदन के पीछे एक विशेष भावना थी कि यह जो प्रवचन-माला है, मैं समझता हूँ, इसी आश्रम के प्रांगण में पाँच या छ: वर्षो के क्रम में चलती रही। प्रतिवर्ष नौ दिन तक ये प्रवचन चल रहे थे और ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने ही वह प्रसंग चुना। अन्य किसी व्यक्ति में तो साहस ही नहीं हो सकता था कि वह एक ही प्रसंग के लिये यह आग्रह कर दे कि वही चलता रहे, पर उन्होंने जो आदेश दिया, उस क्रम में यह प्रवचन-शृंखला चली। 'विवेक ज्योति' पत्रिका में भी क्रमश: उसका प्रकाशन होता रहा है। इस पुस्तक के साथ एक विशेष बात यह थी कि ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने उसकी जो लिपिबद्ध सामग्री है, उसे मुझे देते हुए, उसके साथ जो वाक्य लिखे हैं, जो इस पुस्तक में प्रकाशित हुए, वह उनके महान संतत्व और उनकी विलक्षण विनयवृत्ति है, उनमें जो महान ज्ञान होते हुए भी उत्कट जिज्ञासा-वृत्ति और उनके व्यक्तित्व में जो अनेक गुण थे, जिससे आप भलीभाँति परिचित हैं, वही वस्तुत: उनके चरित्र के माध्यम से, उनके कार्यो के माध्यम से आपके समक्ष है। उनका आग्रह था कि इसका प्रकाशन शीघ्र हो, पर वह उनके सामने सम्भव नहीं हो पाया। जब यह प्रकाशन के लिये गया, तो बड़ा उपयुक्त लगा।

मैं समझता हूँ, मेरी दृष्टि में स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज से बढ़कर, इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति कोई और हो ही नहीं सकता। यह तो उनकी विनम्रता है। सन्तों में तो यह विनम्रता होती ही है। यह भी उनका संतत्व है। इसीलिए ऐसा लगता है कि जैसे सांसारिक परिवार में जब कोई विशिष्ट व्यक्ति चला जाता है, तो ऐसा लगता है कि उसके स्थान की पूर्ति कैसे होगी, किन्तु यह तो एक दिव्य ज्ञान और अध्यात्म की परम्परा है। वह दिव्य ज्ञान और अध्यात्म की परम्परा, इतनी त्याग, तपस्या और साधना से जुड़ी हुई है कि वह ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी में तो साकार था ही, पर यह तो न समाप्त होनेवाली परम्परा है, भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। जब मैं स्वामीजी महाराज का दर्शन करता हूँ, तो मुझे रामकृष्ण मिशन में, भगवान श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और उस परम्परा में, वह जो दिव्य ज्ञान की ज्योति है, वही प्रकाशित दिखाई देती है। इस दृष्टि से जब मैंने यह आग्रह किया था, तो मुझे कहीं से भी संदेह नहीं था कि रायपुर की भूमि से बढ़कर उपयुक्त इसके लिये न कोई भूमि हो सकती है और न ही परम श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज से अधिक उपयुक्त इसके लिये कोई व्यक्ति हो सकता है। इस रूप में केवल स्मरण और उस ब्रह्मलीन महापुरुष का जिसने उस महान प्रकाश की परम्परा को यहाँ भी प्रगट किया, अब भी वह परम्परा प्रगट हो रही है। इस अर्थ में ही यह आग्रह किया गया था और उन्होंने कृपापूर्वक यह कार्य सम्पन्न किया। मैं इस संदर्भ में स्मरण करता हूँ, ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज का और उनका जो संकल्प था, वह इस ग्रन्थ के रूप में साकार हुआ।

आइए, इसके पश्चात जो प्रसंग आपके सामने चल रहा है, जिसका संक्षेप स्वामीजी महाराज ने किया। उन्होंने जो वाक्य अपने विषय में कहे, वह स्वयं अपने आप में केवल व्याख्या ही नहीं है, एक ऐसा महापुरुष, जिसने अपना

समग्र जीवन समर्पित कर दिया हो, रामकृष्ण मिशन की सेवा में, भगवान श्रीरामकृष्ण के विचारधारा के प्रचार और प्रसार में, जब वे भी यह अनुभव कर रहे हों कि वस्तुत: जो भी होता है, प्रभु की कृपा से ही होता है, तो अन्य व्यक्ति इसे अनुभव नहीं करते हैं, तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।

इस पृष्ठभूमि में आइए, यह जो विभीषण का चरित्र है, उसमें शरणागति के माध्यम से साधन-पथ का एक जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया, उस पर दृष्टि डालने की चेष्टा करें। अब मुझे स्वयं ही बड़ा विचित्र-सा लग रहा है, आज और कल में भला हम लोग कहाँ तक पहुँच सकते हैं? प्रभु संक्षेप में जो कहलावेंगे, वही आपके सामने कहा जायगा। पर उसे यूँ कह सकते हैं कि शरणागति का जो मूल तत्त्व है, उसका अधिक उत्कृष्ट उपयोग करें, यह धर्म की मूल धारणा है और जो ज्ञान है, वह पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। हमारे शास्त्रों में जिन चार फलों की परिकल्पना की गई है, उसमें धर्म, अर्थ, काम के बाद जो सर्वश्रेष्ठ फल है, उसे मोक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह मोक्ष प्राप्त कर लेना, इससे बढ़कर पुरुषार्थ का कोई अन्य फल नहीं हो सकता। इसलिए भगवान जब ज्ञानियों की तुलना अपने प्रौढ़ पुत्र से करते हैं, तो उसका तात्पर्य यह है कि एक सुयोग्य पुत्र अपने पिता से प्राप्त वस्तुओं को वृद्धिगत करता है, पिता की महिमा की वृद्धि करता है। इसी प्रकार से जो ज्ञान-पथ का अनुगामी है, वह तो पुरुषार्थ की चरम परिणति के रूप में मोक्ष फल को पाता है। किन्तु यह बात तो आपके सामने अनेक रूपों में कही गई कि धर्म में जिसकी ओर संकेत किया गया, उसका सदुपयोग भी तो तभी होगा, जब ऐसी बुद्धि ईश्वर दे, सद्बुद्धि दे और वह अपनी कृपा से ऐसा करता है। धर्म के मूल में भी कृपा की आवश्यकता है। ज्ञान में भी चरम पुरुषार्थ होते हुए भी यह जो मुमुक्षा है, श्रद्धा है, यह तो बिना ईश्वर की कृपा के जीवन में आ ही नहीं सकता। इसलिए वहाँ भी ईश्वर की कृपा की आवश्यकता तो है ही, पर शरणागति का तात्पर्य यह है – इसको यदि एक भिन्न रूप में कहें, तो यों कह सकते हैं कि धर्म की परम्परा है, ईश्वर के विधान का पता लगाना। अगर इसे इस रूप में स्वीकार करें कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया, तो जैसे अपने देश में एक संविधान है और उस संविधान के अनुकूल जो व्यक्ति आचरण करता है, उसे योग्य नागरिक माना जाता है, उसे प्रशंसा प्राप्त होती है, उपाधि प्राप्त होती है, वह सफलता प्राप्त करता है। ठीक इसी प्रकार से जो कर्म-सिद्धान्त है, वह मानो ईश्वर का संविधान है।

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। २/२१८/४

सृष्टि के निर्माता ईश्वर ने एक ऐसा विज्ञान बनाया है, जो देश और काल से सम्बन्धित नहीं है, उस संविधान का अगर हम ठीक से पालन करते हैं, उस कर्म का हम ठीक-ठीक निर्वाह करते हैं, तो सचमुच कर्म के द्वारा जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, वह प्राप्त करने में हम सक्षम हैं। इसलिये कर्म-सिद्धान्त के अनुयाइयों की जो दृष्टि है, वह ईश्वर पर नहीं, ईश्वर के संविधान पर है। उनका तात्पर्य है कि भले ही देश में राष्ट्रपति हों, प्रधानमन्त्री हों और शासक हों, पर अन्त में संचालन तो संविधान के द्वारा होता है। यदि हम इसलिए ईश्वर के संविधान का पालन कर रहे हैं, तो हमारा ईश्वर से अगर कोई परिचय न भी हो, तो उसमें कोई अन्तर नहीं आएगा। अपने स्थान पर यह बात ठीक है। वेदान्ती की दृष्टि ईश्वर के संविधान पर नहीं, ईश्वर के स्वरूप पर होती है। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? ब्रह्म के स्वरूप और जीव के स्वरूप में एक भिन्नता है। वह खोज करता है कि ईश्वर का रूप नहीं, हमें तो ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। ये दो शब्द आते हैं रूप और स्वरूप। रूप का तात्पर्य है -

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।। १/२४०/४

जिस भक्त की जैसी भावना होती है, उसे उसी रूप में भगवान के दर्शन होते हैं। इस तरह से रूप भावना से जुड़ा हुआ है। पर उस रूप के साथ जो स्व शब्द लगा देते हैं, उसका तात्पर्य है – एक रूप तो वह है कि जिस रूप में हम और आप उसे देखना चाहते हैं। अलग-अलग प्रकार के भक्त और भावुक हैं, उसे भिन्न-भिन्न रूपों में देखना चाहते हैं और वह ईश्वर इतना उदार है कि उसके सामने उसी प्रकार का रूप प्रगट कर देता हैं। गोस्वामीजी श्यामसुन्दर को वंशी धारण किए हुए देखकर एक दोहा कह उठते हैं। यद्यपि उस दोहे की पृष्ठभूमि को जब तक न पढ़ें, तब तक कई लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि गोस्वामीजी तो रामभक्त थे, वे कृष्ण भक्त नहीं थे। पर यह बात सही नहीं

है। जब गोस्वामीजी ने वृन्दावन की यात्रा की थी, तो वे यह जानते थे कि वृन्दावन श्रीकृष्ण की लीलाभूमि है और जिस मन्दिर में वे दर्शन करने के लिये गये थे, वह भी उन्हें ज्ञात था कि वह भगवान कृष्ण का मन्दिर है। स्पष्ट ही है कि अगर वे भिन्नता मानते होते, तो वृन्दावन ही न जाते और श्रीकृष्ण मन्दिर में भी न जाते। उसके पीछे इतिहास यह है कि जब वे मन्दिर में गये, तो अनेक लोग उनके साथ थे। उसमें कोई परशुराम नाम के व्यक्ति थे। उन्होंने तुलसीदासजी पर व्यंग्य कर दिया, क्योंकि वे अपने आपको श्रीकृष्ण का अनन्य भक्त मानते थे और उनकी अपनी धारणा थी कि भक्त का जो अपना इष्टदेव होता है, वह उसी के समक्ष नमन करता है। तुलसीदास जब श्रीकृष्ण के सामने नमन करने आए, तो व्यंग्य की भाषा में उन्होंने कहा –

अपने अपने इष्ट को नमन करैं सब कोय।
परशुराम जो आन को नवै सो मूरख होय।।

जो दूसरे के इष्ट देव को प्रणाम करता है, वह तो मूर्ख है। यह पृष्ठभूमि थी। गोस्वामीजी तो वस्तुत: जानते ही हैं कि वही श्रीराम हैं, वही श्रीकृष्ण हैं।

मेरा यह विलक्षण सौभाग्य रहा है, प्रारम्भ से ही संतों की कृपा रही है। प्रारम्भ में ही वृन्दावन में कुछ विचित्र-सी बात थी। सबसे अधिक एक स्थान पर रामकथा कहने का मुझे सौभाग्य मिला है। वहाँ तीन वर्षों तक अनवरत रामकथा चलती रही। केवल कुछ दिनों के लिए श्रीहनुमानजी के उत्सव के लिये गाँव आता था। मैं जानता हूँ, यह कुछ लीला ही रही होगी। उस समय कुछ व्यंग्य-विनोद भी होता था, वह स्वाभाविक है। वह कृष्ण-लीला की भूमि है और उसमें राम का चरित्र, रामकथा होती थी। उसमें बहुत बड़ी संख्या में भक्त आते थे, साधु आते थे। उसमें कुछ ठिठोली भी करते थे, व्यंग्य-विनोद भी करते थे। पर वह व्यंग्य विनोद वस्तुत: एक पद्धति है, भिन्नता की बात नहीं।

एक कृष्ण-भक्त ने एक बार मुझसे कहा कि भगवान कृष्ण और भगवान राम में भले ही समानता हो, पर भगवान राम के पास भगवान कृष्ण के जैसी वंशी नहीं है, इसलिये वह विशेषता तो श्रीराम में है ही नहीं। स्वाभाविक है कि विनोद में मैंने भी उत्तर यही दिया कि भई जिसके पास बिना वंशी के लोग खिंचे चले आएँ, उसके वंशी बजाने की क्या आवश्यकता है? वंशी बजाकर तो उसने बुलाया होगा, जिसके पास लोग बिना वंशी बजाए पास नहीं आए होंगे। पर वास्तव में यह तत्त्वत: सत्य थोड़े ही है, यह तो कहने-सुनने की एक रसमयी पद्धति है। मुझे स्मरण आता है, गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका में जो पद लिखे हैं, उसमें दृष्टान्त में भगवान राम की उदारता का वर्णन कर रहे हैं, तो उसमें कुछ घटना भगवान कृष्ण की लीला की भी ले लेते हैं। एक बड़ा विलक्षण पद है, जिसमें भगवान राम की उदारता की बात कह रहे हैं, पर उसमें घटनाएँ जो बता रहे हैं, भगवान राम के चरित्र की एक भी घटना नहीं है। वह बड़ा प्रसिद्ध पद है –

ऐसी कौन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पामरनि पर प्रीति।।

ऐसा उदार कौन होगा, जो पापियों से भी प्रेम करता है। दृष्टान्त देते हुए उन्होंने कहा –

गई मारन पूतना कुच काल कूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु यादवराइ।।

उन्होंने पूतना को गति दी।

काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह।।
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।
कियो लीन सु आपमें हरि राज-सभा मँझारि।।
ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि।।

(विनय-पत्रिका २१४)

स्वाभाविक था, व्यंग्य भरे स्वर में भगवान कृष्ण के भक्त ने कहा, भगवान की उदारता गिनाने के लिए उन्हें भगवान राम के चरित्र में दृष्टान्त नहीं मिला होगा, तो श्रीकृष्ण के चरित्र की उदारता सुना रहे हैं। अब उत्तर तो उत्तर की तरह है। तब मैंने उनसे कहा कि उस पद को आप ध्यान से पढ़िए, तो आपको एक सूत्र मिलेगा। इस पद के साथ जुड़ा हुआ एक और पद तुलसीदास जी ने लिखा है। इस पद का जो अंतिम शब्द है, वह क्या है? भगवान ने पूतना को गति दिया, गोपियों को वन्दनीय बनाया, शिशुपाल को अपने में लीन कर लिया और जिस व्याध ने उनके चरणों में बाण मारा, उसे भी अपना स्वलोक दे दिया। वह अन्तिम शब्द बड़ा सुन्दर है – **प्रगट करि निज बानि। (क्रमशः)**

भगवद्भक्तों पर गंगा का वात्सल्य

डॉ. सत्येन्दु शर्मा

प्रा. दूधाधारी संस्कृत महाविद्यालय और महिला महाविद्यालय, रायपुर

गंगा नाम है भगवान् के चरणों तक पहुँचानेवाली शक्ति का – '**गमयति प्रापयति ज्ञापयति वा भगवत्पदं या शक्तिः।**' (शब्दकल्पद्रुम कोश)

गंगा इस संसार में सर्वसुलभ वह प्रत्यक्ष हरि-चरणोदक है, जिसका श्रद्धापूर्वक सेवन कर कोई भी जीव भगवान् के चरणों का आश्रय प्राप्त कर सकता है।

भगवान विष्णु के चरणों को प्रक्षालित करने के कारण माता गंगा त्रिभुवन में पवित्रतम हैं। यह भगवत्पदी ऐसी सौभाग्यवती पुण्यसलिला है, जिसे मस्तक पर धारण कर भगवान् शिव महादेव और देवाधिदेव के पद पर विभूषित हैं, जिसे उत्संग प्रदानकर हिमालय ने पर्वतराज और देवभूमि की उपाधि पायी है और प्रवाह-क्षेत्र का हिस्सा बनने के कारण भारत को इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ पुण्य-देश घोषित होने का गौरव प्राप्त है।

ये देवी भागीरथी सगर के पुत्रों का उद्धार करने के लिये इस धराधाम पर अवतीर्ण हुई थीं, किन्तु तब से ये जीवमात्र के हित के लिये निरन्तर प्रवहणशील हैं। गंगामाता धरती पर उपलब्ध श्रीहरि का चरणामृत हैं, जिनका दर्शन, स्पर्श, स्मरण, स्तवन, पूजन, अवगाहन मनुष्य को भगवान् के चरणों तक पहुँचा देता है। संक्षेप में देवी गंगा प्राणिमात्र के लिये भगवत्प्राप्ति का प्रत्यक्ष सुलभ साधन हैं।

भगवती गंगा हरिस्वरूपा भी हैं, हरिभक्त भी हैं और हरिभक्तप्रिया भी हैं। गंगा का सर्वस्व सन्तों के समान ही समुज्ज्वल है। जिस प्रकार सन्त स्वयं कष्ट उठाकर भी सदा लोगों के हित-साधन में निरत रहते हैं, उसी प्रकार गंगामाता भी अपने आश्रितों के सारे पाप-कालुष्य लेकर उन्हें निर्मलता प्रदान करती हैं। गंगा का एकमात्र व्रत है – जीव-कल्याण। पापियों का शुद्धिकरण और भगवद्भक्तों का सर्वविध सहयोग ही मानो उनके भूतलवास का उद्देश्य है।

गंगा लाखों-करोड़ों वर्षों से निरन्तर बहती अपनी धारा की कल-कल ध्वनि से जीवों को अपने पास आने का निमन्त्रण देती रही हैं और जो भी श्रद्धावान भक्त उनकी शरण में गया, उसने माता गंगा का अचिन्त्य वात्सल्य प्राप्त किया। यहाँ कुछ भगवद्भक्तों पर गंगामाता द्वारा किये गये अनोखे अनुग्रह के प्रसंग प्रस्तुत हैं –

१. विद्यापति पर गंगा-कृपा - मिथिला के प्रसिद्ध कवि विद्यापति भगवान शिव और गंगा के अनन्य भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि उनकी परा भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान शिव ने अनेक वर्षों तक सेवक उगना के रूप में उनकी सेवा की थी।
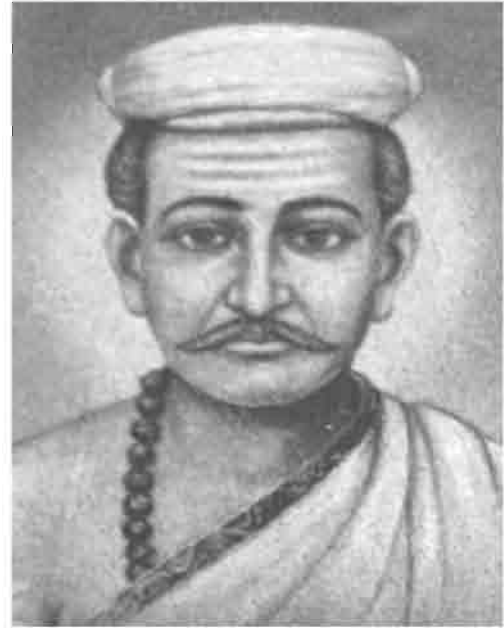
कवि विद्यापति १३५२-१४४८

विद्यापति ने माता गंगा की गोद में ही अपनी जीवन-लीला समेटने का संकल्प कर रखा था। इसलिए मृत्यु का समय निकट आता देखकर उन्होंने अपने परिवार के लोगों से गंगातट पर पहुँचाने का अनुरोध किया। घर के लोगों ने उनकी इच्छानुसार चार कहारों की व्यवस्था की और वे विद्यापति को पालकी में बिठाकर सिमरिया घाट की ओर चल पड़े। रातभर चलने के बाद सुबह विद्यापति ने कहारों से पूछा कि गंगामाता अब और कितनी दूर हैं? कहारों ने बताया कि करीब पौने दो कोस और आगे जाना पड़ेगा। रुग्ण विद्यापति बहुत दुर्बल हो चुके थे। उन्होंने कहारों से कहा – "मुझे पालकी से यहीं नीचे उतार दो। मैं अब और

आगे तक नहीं जा सकता। घर से चलकर इतनी दूर तक माता गंगा के लिए मैं आया हूँ, तो अपने पुत्र के लिए क्या माँ यहाँ तक नहीं आयेगी? वह अवश्य आयेगी।''

विद्यापति पालकी से उतरकर वहीं बैठ गये और माँ गंगा का स्मरण-स्तवन करते हुए ध्यानमग्न हो गये और परम आश्चर्य कि माँ गंगा वहाँ अपनी एक विशेष धारा-प्रवाह के साथ पहुँच गयीं। विद्यापति आनन्द से गद्‌गद होकर माँ की स्तुति करने लगे और माँ ने उन्हें सदा के लिये अपनी गोद में समेटकर संसार में वात्सल्य का एक अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया। विद्यापति पर माता गंगा का यह स्थान आज विद्यापतिनगर के नाम से जाना जाता है।

२. तुलसीदास पर गंगा-कृपा – गोस्वामी तुलसीदास के प्राणाधार श्रीराम-जानकी थे, किन्तु काशी में वे जितने समय भी रहे, उन्होंने माता गंगा के तट पर ही निवास किया और इसलिये रघुनाथ तथा महावीर की तरह गंगा की कृपा भी उन्हें सहजता से प्राप्त थी।

एक बार तुलसीबाबा गंगाजी की धारा में खड़े होकर मंत्र जप रहे थे, तभी एक दरिद्र ब्राह्मण उनसे मिलने आ पहुँचा। उसने सुन रखा था कि गोस्वामीजी अलौकिक योगविभूतिसम्पन्न सन्त हैं और वे इच्छानुसार कुछ भी चमत्कार कर सकते हैं। ब्राह्मणदेवता उनके समीप जाकर अपनी दीनता दूर करने की याचना करने लगे। गोस्वामीजी का चित्त द्रवित हो गया और उन्होंने तत्काल गंगामाता से उसके लिये भूमि देने की प्रार्थना की। गंगा की धारा एक ओर

गोस्वामी तुलसीदास १५११-१६२३

सरक गयी और धारा द्वारा छोड़ी गयी जमीन तुलसीबाबा ने उस ब्राह्मण को दे दी।

३. रैदास पर गंगा-कृपा – एक ब्राह्मण राजा की ओर से प्रतिदिन गंगा-स्नान करने जाता था। एक दिन जूते फट

सन्त रैदास १३९८-१५४०

जाने से वह रैदासजी के पास पहुँचा। उन्होंने ब्राह्मणदेवता को जूते का एक नवीन जोड़ा भेंट किया और श्रद्धापूर्वक एक सिक्का देते हुए उनसे कहा – ''गंगामाता को मेरी ओर से यह अर्पित कर दीजियेगा।''

अपनी पूजा समाप्त कर ब्राह्मणदेवता जैसे ही रैदासजी का सिक्का फेंकनेवाले थे कि गंगा की धारा से बाहर एक हाथ प्रकट हो गया। हथेली फैलाकर गंगामाता ने वह सिक्का ग्रहण किया और ब्राह्मणदेवता को एक स्वर्ण-कंकण देकर कहा – ''मेरा यह उपहार रैदास को दे देना।''

मार्ग में ब्राह्मणदेवता पर पाप सवार हुआ और पुरस्कार के लोभ में उन्होंने कंकण ले जाकर राजा को भेंट कर दिया। जब राजा ने वह कंकण रानी को दिया, तो उस दैवी कंकण के सौन्दर्य से चमत्कृत होकर उसने वैसा ही एक और कंकण बनवाने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु राजा के आदेशानुसार अथक प्रयत्न करके भी कोई कारीगर सफल नहीं हो सका। इधर कंकण की अभिलाषा पूर्ण न होते देख रानी अस्वस्थ होती जा रही थीं। अन्य कोई उपाय न पाकर राजा ने ब्राह्मणदेवता को आदेश दिया कि जहाँ से वह पहला कंकण लाया है, वहीं से दूसरा कंकण लाकर दे, अन्यथा उसे मृत्युदण्ड दिया जायेगा। अब प्राणों पर संकट आया देखकर भयभीत ब्राह्मण ने राजा को सम्पूर्ण सत्यता बतायी।

राजा रैदासजी के निकट पहुँचे और सारा वृत्तान्त बता कर नम्रतापूर्वक दूसरे कंकण की याचना की। करुणहृदय रैदासजी ने अपने पास रखी कठौती के जल में हाथ डालकर भगवती गंगा को नमन किया और जब हाथ बाहर निकाला तब उनके हाथ में अनेक स्वर्ण-कंकण थे। एक कंकण राजा को सौंपकर अन्य कंकण रैदाजी ने पुन: माता गंगा को समर्पित कर दिया। इस प्रकार भगवती गंगा ने अपनी चमत्कारी लीलाओं से प्रियपुत्र रैदास के लिए प्रमाणित कर दिखाया कि – '**मन चंगा तो कठौती में गंगा।**'

४. तैलंग स्वामी पर गंगा-कृपा – तैलंग स्वामी वाराणसी में करीब डेढ़ सौ वर्षों तक लीला-विहार करते रहे। कभी वे गंगा के तट पर बैठे दिखलायी पड़ते, तो कभी घण्टों गंगा माई की धारा में पड़े रहते थे। एक बार वे गंगा में उतर रहे थे, तभी एक स्त्री को अपने मृत पति के शरीर से लिपटकर रोते-बिलखते देखा। गत रात्रि में सर्प-दंश से उसके पति की मृत्यु हो गयी थी। स्त्री का करुण क्रन्दन
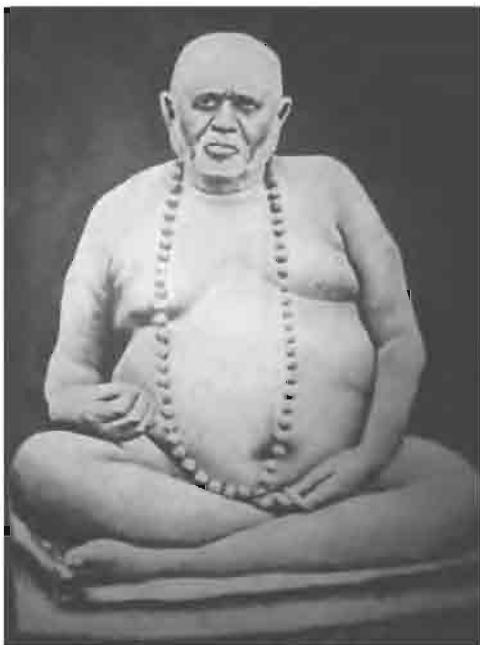
तैलंग स्वामी १६०७-१८८७

सुनकर स्वामीजी का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने तत्काल गंगा की थोड़ी-सी रेती उठाकर मृत शरीर के क्षत-स्थल पर लेपन कर दिया और गंगा की धारा में अदृश्य हो गये। इधर कुछ ही देर में मृतक के शरीर में चेतना लौटने लगी और वह पूर्ण स्वस्थ होकर उठ बैठा।

एक बार उज्जैन के राजा नौका से गंगा-भ्रमण कर रहे थे। तभी तैरते हुए स्वामीजी वहाँ प्रकट हो गये। नौका पर सवार अन्य जाननेवाले लोगों ने राजा को स्वामीजी का परिचय बतलाया और सबने मिलकर उन्हें ससम्मान जलधारा से निकालकर नौका में बिठा लिया। स्वामीजी उस समय शिशुवत् आचरण कर रहे थे। उनकी दृष्टि राजा की कमर से लटकती तलवार पर पड़ी और माँगकर उन्होंने तलवार अपने हाथ में ले ली। कुछ देर उलट-पलट कर देखते रहे और अचानक तलवार गंगाजी में फेंक दी। अब राजा का क्रोध सातवें आसमान पर था। किनारे पहुँचने तक वह स्वामीजी को दण्डित करने की लगातार धमकी दिये जा रहा था। तट पर आने तक स्वामीजी में भावान्तरण हुआ। हँसते हुए उन्होंने जलधारा के भीतर हाथ डालकर जब बाहर निकाला, तब उनके हाथ में एक-जैसी दो तलवारें थीं। योगिराज तैलंग ने राजा से कहा – इन दोनों में पहचानकर अपनी तलवार ले लो। राजा दोनों तलवारों को उलट-पलटकर देखता रहा, परन्तु बिल्कुल एक-जैसी होने से अपनी तलवार नहीं पहचान पा रहा था।

स्वामीजी ने उसे फटकारते हुए कहा – 'जिसे अपनी वस्तु मानने का दम्भ था, उसे पहचान तक नहीं सके। मृत्यु के बाद यह तलवार निश्चय ही तुम्हारे साथ नहीं जायेगी, फिर यह तुम्हारी कैसे हुई? और जो तुम्हारी नहीं है, उसके लिए इतना क्रोध-क्षोभ क्यों?'

इतना बोलकर उसे उसकी तलवार देकर दूसरी तलवार गंगाधारा को समर्पित कर दी।

५. सन्तदासजी पर गंगा-कृपा – तारा किशोर चौधरी कलकत्ता उच्च न्यायालय के प्रसिद्ध वकील थे। प्रतिदिन गंगा-स्नान और तत्पश्चात् तट पर बैठकर जप, ध्यान और पूजन करना उनका नियम था, किन्तु आध्यात्मिक जिज्ञासावश गुरु-प्राप्ति के लिये उनका हृदय सदा उत्कण्ठित रहता था। एक दिन गंगा-पूजन के बाद प्रबल वेदना में अश्रुपूरित कण्ठ से वे कहने लगे, 'हे माँ गंगे! तुम त्रितापनाशिनी हो। क्या मेरा पाप इतना दुर्भर है कि तुम्हारी त्रैलोक्यपावनी धारा भी उसे शुद्ध नहीं कर सकती?'

तारा किशोर के इस उद्गार के साथ ही उनके सामने एक अलौकिक दृश्य भासित हो उठा। उन्होंने देखा कि सामने हिमालय का वह गंगोत्री स्थान है, जहाँ से गोमुखी धारा फूटती है। वहाँ पर उमा-महेश्वर दिव्य रूप में विराजमान थे।

शेष भाग पृष्ठ २७९ पर

भजन एवं कविता

स्वयं सँवर जायेगा कल

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

कल की चिन्ता क्यों करते हो, क्या जाने क्या होगा कल ।
वर्तमान को आज सँवारो, स्वयं सँवर जायेगा कल ।।
दुर्लभतम मानव-तन-जीवन परमेश्वर की भेंट महान,
त्याग सभी परपंच मोहमय बन सकता है यह वरदान,
विधि का अटल विधान विश्व में नहीं कभी सकता है टल ।
वर्तमान को आज सँवारो, स्वयं सँवर जायेगा कल ।।
जिसने साधा वर्तमान को उसका वांछित आया हाथ,
पल का नहीं ठिकाना, कोई कैसे कल दे सकता साथ,
करो सार्थक पल-पल को तुम, व्यर्थ न जाए कोई पल ।
वर्तमान को आज सँवारो, स्वयं सँवर जायेगा कल ।।
सत्य-न्याय-करुणा-सेवा ही मानव-सेवा की शुभ राह,
निरभिमान निश्छल जीवन में रहे प्रवाहित प्रेम-प्रवाह,
छलनी होता उसका जीवन, जो अपरों से करता छल ।
वर्तमान को आज सँवारो, स्वयं सँवर जायेगा कल ।।
वह कैसा मानव परदुख से कभी न छलके जिसके नैन,
जिसके मुख से कभी न निकले स्नेहिल सत्य सुधा-सम बैन,
मानवता ही मानव-तन का है 'मधुरेश' सदा शुभ फल ।
वर्तमान को आज सँवारो, स्वयं सँवर जायेगा कल ।।

अब मोहि हरि चरनन की पड़ी

श्री मैथिलीशरण 'भाईजी', ऋषिकेश

अब मोहि हरिचनन की पड़ी ।
निरखत हौं दिन-रैन चहूँ दिसि पल-पल घड़ी-घड़ी ।।
जिन चरनन को ध्यान करत रत गुरु ने देह तजी ।
जनक लली ने प्राणन से प्रिय हिए शोध धरी ।।
गुरु वशिष्ठ कौशिक दोउ गुरु ने चरनन प्रीत करी ।
हनुमत हृदय चरण धरि लीन्हें कनकहि लंक जरी ।।
ब्रह्मसुता पाषाणि अहिल्या रज सिरधारि तरी ।
भरत लखन रिपुसूदन कपि सुत चरनन आस धरी ।।
शरण मैथिली आस छोड़ सबकी मति कुमति पड़ी ।
गुरुचरनन को ध्यान करे नित प्रभु सन प्रीति बढ़ी ।।

छबि अद्भुत प्रभु जगन्नाथ की

आनन्द कुमार पौराणिक

छबि अद्भुत प्रभु जगन्नाथ की ।
बहन सुभद्रा, चक्र, बलभद्र भ्रात की ।।
शुक्ल द्वितीया मास असाढ़, रथायात्रा निकली मन भावन।
गगन पुष्प वर्षा करे, पुरी सुशोभित अति पावन ।।
देव, मुनि, ऋषि, तपो पधारे प्रभु भक्त जन ।
जय जयकार करें सब, धन्य धरा कण-कण ।
काम कोटि छबि ललित न्यौछावर, महिमा अमितजात की।।
छबि अदभुत प्रभु जगन्नाथ की ।।
ढोल, मृदंग, मजीरा बाजे, करै नृत्य भक्त जन ।
श्री हरि बोल की ध्वनि गूँजे, मगन करें सब संकीर्तन ।
हे करुणामय, दया सिन्धु, काटो भव-बन्धन।
हाथ जोड़ सब विनय करै, मनमोहन जगवन्दन ।।
जनम जनम से हमें प्रतीक्षा, नाथ! तेरे करामात की ।
छबि अद्भुत प्रभु जगन्नाथ की ।।

सुबह-शाम ताली बजाते हुए हरिनाम गाया करो, ऐसा करने से तुम्हारे सब पाप-ताप दूर हो जाएँगे। जैसे पेड़ के नीचे खड़े होकर ताली बजाने से पेड़ पर के सब पंछी उड़ जाते हैं, वैसे ही ताली बजाते हुए हरिनाम लेने से देहरुपी वृक्ष पर से सब अविद्यारूपी चिड़ियाँ उड़ जाती हैं।

यदि तुम ईश्वर के दर्शन करना चाहो, तो हरिनाम पर दृढ़ विश्वास रखो और सदसत्-विवेक करो।

— श्रीरामकृष्णदेव

मातृभक्त शिवाजी

वैभव सिंह, उत्तर प्रदेश

किसी भी सफल व्यक्ति के जीवन में माँ का स्थान बहुत ऊँचा होता है। एक ओर जहाँ माँ को 'प्रथम गुरु' कहा गया है, तो वहीं दूसरी ओर उसके 'चरणों के नीचे स्वर्ग' बतलाया गया है। भारत के इतिहास में ऐसी अनेक माताओं के नाम स्वर्णाक्षिरों में लिखे जा सकते हैं, जिन्होंने अपने पुत्र के चरित्र-निर्माण में बहुमूल्य योगदान दिया। ऐसी ही एक माँ है, छत्रपति शिवाजी महाराज की वीरमाता जीजाबाई। शिवाजी महाराज का जन्म पूना जिले के जुन्नर नगर के निकटवर्ती शिवनेरी के किले में सन् १६२७ ई. में वैशाख, शुक्ल पक्ष तृतीया को हुआ था। उनके पिता शाहजी भोसले थे। जीजाबाई ने अपने गर्भस्थ शिशु की कुशलता के लिए स्थानीय देवी शिवाई देवी से प्रार्थना की थी और उनके जन्म के बाद शिवाई देवी के नाम पर उनका नाम शिवाजी रखा। शिवाजी अपनी माता पर एक देवी के समान श्रद्धा करते थे।

बालक शिवाजी के लालन-पालन से लेकर, उसकी शिक्षा तथा चरित्र-निर्माण का श्रेय उनकी माता जीजाबाई को जाता है। उन्होंने रामायण, महाभारत तथा वीरों की गौरव गाथाएँ सुनाकर शिवाजी के मन में हिन्दू-भावना के साथ-साथ वीर-भावना की भी प्रतिष्ठा की। मुगल आदिलशाह और निजामशाह ने हिन्दुओं पर अवर्णनीय अत्याचार किये थे। भारत भूमि पर हिन्दू स्वराज्य की स्थापना करने का सपना जीजाबाई ने शिवाजी की आँखों से देखा। स्वराज्य-निर्माण में वे शिवाजी की आदिशक्ति और प्रेरणास्रोत थीं। वह प्राय: कहा करती थीं - 'यदि तुम संसार में आदर्श हिन्दू बनकर रहना चाहते हो, तो स्वराज की स्थापना करो। देश से यवनों और विधर्मियों को निकालकर हिन्दू-धर्म की रक्षा करो।' बचपन से ही पौराणिक कथाओं को अपनी माँ से सुनना तथा सुनकर साहसी नायकों की शौर्यपूर्ण कृत्यों की नकल करना, शिवाजी को अत्यन्त प्रिय था।

शिवाजी का यह नियम था कि बिना माँ को प्रणाम किये न तो वे किसी समारोह में जाते और न ही ऐसा कोई समारोह था जहाँ से लौटकर वे माँ को प्रणाम न करते। पुत्र का जैसा विश्वास माँ के प्रति था, वैसा ही माँ का स्नेह और विश्वास पुत्र के प्रति था।

शिवाजी अपनी माँ के प्रत्येक आदेश का पालन करते थे। माँ के आदेश-पालन के कारण ही एक बार शिवाजी की प्राणों की रक्षा हुई। घटना उस समय की है, जब अफजल खाँ और शिवाजी की भेंट होने वाली थी। शिवाजी ने माँ जीजाबाई को साष्टांग प्रणाम किया। जीजाबाई ने शिवाजी के सिर पर हाथ रखकर कहा, ''मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ – शिवा! जो हम सबको चलाती हैं, मैं तुम्हें उनकी शक्ति से संयुक्त करती हूँ। जाओ और बिना डरे उनके आदेश का पालन करो। तुम असफल नहीं होगे। वार्ता में जाने के पहले तुम शिरस्त्राण और बख्तर पहन लेना। अपनी बायीं उँगलियों में बघनखा धारण करना और दाहिने हाथ की आस्तीन में बिछुवा छिपा लेना। यह भवानी का आदेश है। इसके अर्थ को तुम घटना के बाद ही समझ सकोगे।'' माँ के आदेश को शिरोधार्य करके शिवाजी उसी प्रकार सज-धज कर गये। अफजल खाँ ने गले मिलने के समय शिवाजी की गर्दन को काँख में बायें हाथ और शरीर के बीच दबाकर शिकंजे जैसा फँसा लिया। और उनके ऊपर अपनी तलवार से वार किया। इस संकट की घड़ी में, माँ के आदेश से उन्होंने जो शिरस्त्राण, बख्तर, बघनखा और बिछुवा पहना था, उसी से उनकी प्राणों की रक्षा हुई।

सन् १६७४ में रायगढ़ (महाराष्ट्र) में उनका राज्याभिषेक हुआ और उनको 'छत्रपति' की उपाधि मिली। ३ अप्रैल, १६८० को शिवाजी महाराज ने अन्तिम साँसें लीं। आधुनिक समय में अनेक पढ़े-लिखे व्यक्ति अपने माता-पिता को असहाय अवस्था में वृद्धाश्रम में छोड़ दे रहे हैं। इन परिस्थितियों में बच्चों को शिवाजी से मातृभक्ति का पाठ पढ़कर अपने माता-पिता की उचित सेवा करने की प्रेरणा लेनी चाहिए। जिन-जिन महापुरुषों ने अपनी माँ से प्रेरणा पायी है, उन माताओं में जीजाबाई का नाम स्वर्णाक्षिरों में लिखा रहेगा, क्योंकि शिवाजी के चरित्र-निर्माण का पूरा श्रेय उन्हीं को है। ऐसे मातृभक्त वीर शिवाजी को नमन। ○○○

आध्यात्मिक जीवन हेतु दिनचर्या और विचारों पर ध्यान दो

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

यदि आध्यात्मिक जीवन बिताना है, तो पहले अपनी दिनचर्या बदलनी होगी। जीवन-पद्धति न बदलने से उसका विशेष लाभ नहीं होता। हमें अपने विचारों पर ध्यान देना है, नहीं तो वह गहन हो जाती है। गहन हो जाने से मन अशान्त हो जाता है और जीवन पूरा बिगड़ जाता है। हमारे व्यवहार में आध्यात्मिकता आनी चाहिए। किसी का धन लेने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। किसी से ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। किसी की बहू-बेटी हो, तो हमारे मन में भी बुरे विचार नहीं आने चाहिए। जब हम आध्यात्मिक जीवन में ऊपर उठेंगे, तो सभी लड़के-लड़कियाँ अपने लगने लगेंगे। हमलोगों में जो कमियाँ हैं, उनको कम करने हैं, नहीं तो हम नीचे की ओर गिरने लगते हैं और पशु के समान बन जाते हैं। सबसे प्रेम करो, पर दुनिया भर के सम्बन्धों को नहीं बढ़ाना है। अपने विचारों को ठीक करना है, अच्छा करना है। किसी की निन्दा नहीं करनी है। यदि शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहते हो, तो एकान्त में रहना सीखो।

हम जो सत्संग सुनते हैं, उसको आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे पास अधिक सद्‌गुण नहीं हैं, इसलिये हमें सत्संग करना है, सद्‌ग्रन्थ पढ़ना है, सच्चर्चा करनी है, भगवान का नाम जप करना है। उससे मन शुद्ध, पवित्र होता है।

पहले दूसरों को सुधारने जाओगे, तो स्वयं बिगड़ने का भय अधिक रहता है। इसलिए सबसे पहले अपने सुधरो। अच्छे संस्कारों को ग्रहण करो, कुसंग छोड़ो। दूसरों के लिये भगवान से प्रार्थना करो। भगवान के नाम जप में रहो। व्यर्थ के कामों में अपना मौलिक समय नहीं गँवाना है। दूसरे का दोष देखने के सिवाय अपने मन को, अपने दोषों को देखो कि तुम्हारे जीवन में कुछ दोष तो नहीं आ रहे हैं। यदि मन दोष ही देखता है, तो उसे भगवान के नाम से भर दो, सब कचरा बाहर निकल जायेगा।

भगवान तो भावग्राही हैं – भावग्राही जर्नादन:। वे भाव के भूखे हैं। उनको हमसे कुछ नहीं चाहिए। वे अच्छा भाव ही चाहते हैं। अगर हमें सच्ची भक्ति का एक बूँद भी मिल जाये, तो हमारा कल्याण है।

जब भी परिवार के लोग एकत्र हों, तो उनसे अच्छी ही बातें बोलना। उन सब पर अच्छे संस्कार डालना। उससे तुम्हारा जीवन तो अच्छा बनेगा ही, उनका भी जीवन अच्छा होगा। लोगों को सदा सकारात्मक ही बातें बोलना। सकारात्मक बातें करने से हम जो अच्छा सोचते हैं, वैसा ही बन जाते हैं। ईश्वर पर निर्भरता और दृढ़ विश्वास रहने से हम अच्छे बन जायेंगे। भगवान हैं और भगवान मेरी प्रार्थना सुन रहे हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास रहने से अध्यात्म में हम आगे बढ़ सकते हैं। जहाँ भी कोई बुलाए, तो वहाँ जाकर सच्चर्चा ही करनी है। हम सच्चर्चा करेंगे, तो लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

शरीर का क्या ठिकाना? कब रहे न रहे। किसी संस्कृत के आचार्य ने कहा है 'शरीरं व्याधिमंदिरम् – शरीर व्याधियों का घर है। उसको ठीक करने के लिए हमें कुछ चीजों की परहेज भी रखनी पड़ती है। जवानी वापस नहीं आयेगी, लेकिन हम सोचते हैं कि हम जैसे जवानी में थे, वैसे ही इस उम्र में भी रहेंगे। पर शरीर पर वर्षो का उम्र का प्रभाव पड़ता है, शरीर दुर्बल हो जाता है, पर मन युवा रहता है। इसलिए संयम से रहना है, नहीं तो शरीर की दुर्गति होती है। शरीर हमारे उपयोग के लिए है। दवा लेने से रोग सुधरते हैं, पर दवा के साथ पहेज नहीं रखेंगे, तो कुछ नहीं होने वाला है। हमलोग सिर्फ मुँह से भगवान का नाम लेते हैं, मन कहीं और रहता है। ऐसा करने से हमारा कुछ नहीं होगा। हमें ह्दय से भगवान का नाम लेना चाहिए। ○○○

पूजा, सेवा, जप, ध्यान आदि नित्यकर्म निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करने से, पूर्व और इस जन्म के अशुभ संस्कार नष्ट हो जाते हैं और शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, परिणामत: साधन-भजन भी क्रमश: सहज साध्य हो जाता है और चित्त शुद्ध और मन स्थिर होकर भगवद् भाव में तल्लीन हो जाता है और तत्त्वज्ञान-लाभ होता है। – स्वामी विरजानन्द

हमें नैतिक क्यों होना चाहिए?

स्वामी भजनानन्द

(स्वामी भजनानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ न्यासी हैं। महाराजजी 'प्रबुद्ध भारत' अँग्रेजी मासिक पत्रिका के सम्पादक भी कई वर्षों तक रहे। उन्होंने कई पुस्तकों का लेखन और सम्पादन भी किया है। युवकों के लिए विशेष उपयोगी अँगेजी से इस सारगर्भित रचना का हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी विमोहचैतन्य ने किया है।)

नैतिकता और सदाचार एवं आधुनिक-काल में उनका महत्त्व – स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण

महाभारत के अन्तिम खण्ड में एक छोटी-सी कहानी है। कुरुक्षेत्र युद्ध के ३६ वर्षों के पश्चात् कौरवों के वृद्ध पिता राजा धृतराष्ट्र और वृद्धा माता गान्धारी ने वनवास जाने तथा ध्यानपरायण जीवन व्यतीत करने का निर्णय लिया। पाण्डवों की माता कुन्ती ने भी उनके साथ जाने और वन में रहने का निश्चय किया। कुन्ती के सभी पुत्र नगर के अन्तिम छोर तक उनके साथ गए और अपनी माता की विदाई के समय वे सभी दुखित हुए। अपने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कुन्ती ने उन्हें अपने भाइयों सहित वापस लौटने और बुद्धिमानी से राज्य पर शासन करने को कहा। बुद्धिमानी से शासन कैसे किया जाए? कुन्ती ने उपदेश दिया : आपकी बुद्धि धर्म में प्रतिष्ठित हो (आपका आचरण धर्मानुसार हो) और आपका मन विशाल हो (सदैव उच्च विचारों से भरा रहे)। जिन लोगों पर प्रशासन अथवा प्रबन्धन का उत्तरदायित्व है, वे चाहे – व्यावसायिक अधिशासी हों, विभागीय प्रमुख हों, मन्त्री या राजनेता हों, कुन्ती ने उन सबके लिए सुशासन के कालातीत सिद्धान्तों के सारांश को एक वाक्य में प्रस्तुत किया है। उनके आचरण में लोगों के लिए हृदय की विशालता, व्यापक सोच, क्षमाशीलता, विनम्रता और दयालुता होनी चाहिए। उसके साथ ही उनकी बुद्धि धर्म में प्रतिष्ठित होनी चाहिए। यहाँ बुद्धि का अर्थ साधारण बुद्धि से नहीं है, बल्कि ऐसी बुद्धि से है, जो निश्चयात्मिका हो, जिसमें निर्णय लेने की क्षमता हो, इसे अँग्रेजी में 'विल' (इच्छा, अभिलाषा) कहा जाता है। इच्छा या निष्ठा ईश्वर पर प्रतिष्ठित या स्थिर होनी चाहिए, तात्पर्य यह है कि हमारा पूरा जीवन ईश्वर-केन्द्रित होना चाहिए और हमारे सभी विचार, भावनाएँ तथा कर्म धर्म द्वारा प्रदर्शित होने चाहिए।

धर्म क्या है? अधिकतर भारतीय भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग धर्म के अर्थ में किया जाता है, परन्तु महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों में धर्म का प्रयोग नैतिकता के अर्थ में किया जाता है। नैतिकता का अर्थ नैतिक आचरण से है, जो नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित वैश्व नैतिक प्रणाली के अनुसार है।

किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के नैतिक आचरण को परखने के लिए एक नैतिक मानदण्ड का होना आवश्यक है। नीतिशास्त्र नैतिक मानदण्डों का अध्ययन है। यहाँ नैतिकता और नीतिशास्त्र को विचार-विमर्श का विषय लेने के दो कारण हैं –

१. पहला कारण : मानवता नैतिक संकट का सामना कर रही है और वर्तमान विश्व में यह एक प्रमुख समस्या है।

२. दूसरा कारण : व्यापक रूप से कोई यह नहीं जानता है कि स्वामी विवेकानन्द ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्त तथा नैतिकता के आचरण में मूल योगदान दिया है।

वर्तमान विश्व में नैतिकता

अधिकतर समस्याएँ, जिनका सामना हम, आन्तरिक-व्यक्तिगत सम्बन्धों में, पारिवारिक जीवन में, समाज में, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में करते हैं, अन्ततः वे सभी नैतिक समस्याएँ हैं। मानव समाज में अनैतिकता, अपराध, हिंसाएँ, प्रागैतिहासिक काल से अस्तित्व में आयी हैं । परन्तु आधुनिक काल में विशेषकर पिछले दो दशकों से समाज

में ये विकराल रूप (महामारी के अनुपात) से बढ़ रही हैं। पिछले कुछ वर्षों से समाचार पत्रों में ये खबरें प्रकाशित हो रही हैं कि अमेरिका में नैतिकता की कमी आयी है । वहाँ पर नरसंहार, हिंसा, महिलाओं और बच्चों के विरुद्ध अपराध, एड्स जैसे संक्रमण रोगों की घटनाएँ, पारिवारिक जीवन का टूटना इत्यादि में भयानक रूप से वृद्धि हो रही है। यद्यपि इलेक्ट्रॉनिक गैजेट्स (उपकरण), जैसे इंटरनेट और जैव-प्रौद्योगिकी (बायो-टेक्नोलॉजी) से मानवता को बहुत लाभ हुआ है, परन्तु उनके दुरुपयोग से गम्भीर नैतिक परिणाम भी होंगे। आज सामाजिक सुरक्षा, समन्वय तथा शान्ति के लिए आतंकवाद सबसे बड़ा खतरा है। आत्मघाती हमलावरों और उपद्रवियों द्वारा लापरवाही से आत्म-विनाश, निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को आतंकवादी हमले में क्रूरता से मारना, राजनीति या धर्म से प्रेरित हो सकता है, परन्तु इसका सबसे विनाशकारी पहलू यह है कि जो इनमें सम्मिलित हैं, वे बिना किसी ग्लानि या पश्चात्ताप के ऐसी गतिविधियाँ करते हैं। इसके विपरीत उनका विश्वास है कि वे जो कुछ भी करते हैं, वह उचित, नैतिक और सही है। ये समस्याएँ केवल पाश्चात्य राष्ट्रों के समृद्ध समाज में ही नहीं, बल्कि विकासशील देशों में भी सामान्य हैं । भारत जैसे राष्ट्र में अनियंत्रित भ्रष्टाचार, राजनैतिक उत्तरदायित्व तथा एकता के अभाव के कारण ये समस्याएँ तेजी से बढ़ रही हैं। विश्व बैंक की हाल ही की एक रिपोर्ट बताती है कि भारत, उसके द्वारा (विश्व बैंक) प्रदत्त कुल वित्तीय सहायता का ३६ प्रतिशत धन का ही उपयोग करता है। भारत के किसी पूर्व प्रधानमन्त्री ने एक बार कहा था कि सरकार द्वारा गरीब लोगों की सहायता के लिए आबंटित प्रत्येक एक रुपये में से केवल सोलह पैसा ही उन तक पहुँच पाता है।

ये सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ समयानुसार प्रचलित आचार-विचारों, मूल्यों और मानवता के आदर्शों का घोर उल्लघंन है, जो सभ्यता और संस्कृति का मुख्य आधार बनाता है। ये समस्याएँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयाम की हैं और बृहत् पैमाने पर इनके हल की आवश्यकता है, जिन्हें केवल राजनैतिक इच्छा-शक्ति से देश के प्रशासनिक तन्त्र की ठोस कारवाई द्वारा लाया जा सकता है। इसलिए ये विषय अभी चर्चा की सीमा से परे हैं। हमने इन समस्याओं का यहाँ दो कारणों से उल्लेख किया है : (१) हमारे युवाओं को असामाजिक तत्त्वों के विनाशकारी प्रभाव से बचाना। (२) असामाजिक तत्त्वों और उनकी विचारधाराओं को समाज में फैलने एवं उनका प्रवेश रोकने के लिए नैतिक रक्षा की दीवार बनाने की आवश्यकता पर जोर देना।

यद्यपि बहुत कम प्रतिशत लोग ही किसी राष्ट्र की जनसंख्या में से उपर्युक्त समस्याओं को पैदा करने वाले होते हैं। अधिकांश लोग सामान्य, कानून का पालन करनेवाले, उत्तरदायी और अच्छे नागरिक होते हैं। हम यहाँ पर इन लोगों की नैतिकता और सदाचार से जुड़ी समस्याओं से, विशेष रूप से युवाओं के लिए चिन्तित हैं। ये समस्याएँ दो प्रकार की होती हैं : (१) अधर्म (दुर्गुण) पर विजय प्राप्ति हेतु धर्म (गुण) पर दृढ़ विश्वास (२) नैतिकता को व्यावहारिक जीवन में दृढ़तापूर्वक आचरण।

सद्गुणों की शक्ति में श्रद्धा

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा है : किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र को महान बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं : १. अच्छाई की शक्ति पर विश्वास, २. ईर्ष्या और सन्देह का अभाव, ३. जो अच्छा करने और अच्छा बनने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन सबकी सहायता करना।

पहले बिन्दु पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। स्वयं को अच्छा कहने वाले बहुत सारे लोग अच्छाई, सद्गुण, धर्म के बल पर विश्वास नहीं रखते हैं। वे किसी प्रकार अच्छा तो बन पाते हैं, परन्तु उनके पास ज्वलन्त विश्वास नहीं होता है कि वे चरित्र की नैतिक शक्ति के द्वारा सभी प्रतिकूलताओं पर काबू पा सकें, जिससे अन्त में धर्म की विजय होगी : 'सत्यमेव जयते'। दुष्ट लोग दुर्गुणों में अधिक विश्वास करते हैं और वे सफल होते हैं। ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो अच्छे हैं, परन्तु वे धर्म में उतना अधिक विश्वास नहीं करते हैं। अन्य एक बिन्दु जिस पर स्वामी विवेकानन्द ने जोर दिया, वह

है नैतिकता का सकारात्मक पहलू। अधिकांश लोगों के लिए नैतिकता नकारात्मक है, इसका अर्थ है, कुछ भी बुरा करने से बचना। यह पर्याप्त नहीं है। सकारात्मक रूप से अच्छा करना, नैतिकता का यह भी अर्थ होता है। हमारे युवाओं को केवल बुराई करने से ही नहीं बचना चाहिए, परन्तु उन्हें कुछ अच्छा भी करना चाहिए, जैसे – भूखे लोगों को भोजन देना, रोगियों की देखभाल करना, अनाथों की रक्षा करना, असहायों को सहायता देना, अशिक्षितों को पढ़ाना, पददलितों का उत्थान करना इत्यादि। नैतिकता हमें एक ऐसा दृढ़ चरित्र-निर्माण करने में सक्षम बनाए, जो नैतिक समस्याओं का साहस के साथ सामना करने में सहायता करे। अपने चरित्र-बल से हमें दूसरों को प्रभावित करना चाहिए, न कि लड़ाई-झगड़ों से।

नैतिकता की वास्तविक नींव

नैतिक जीवन की एक बड़ी समस्या यह है कि जिन नैतिक सिद्धान्तों पर लोग विश्वास करते हैं और उनका पालन करने का प्रयास करते हैं, उनका कोई ठोस तात्त्विक आधार नहीं हैं, जिससे वास्तविक वैधता का अभाव हो जाता है। कई शताब्दियों से सभी देशों में धर्म नैतिकता का परिरक्षक रहा है। जूडो-क्रिश्चन परम्परा में नैतिकता, ईश्वर की आज्ञा और प्रसंविदा की मान्यताओं पर आधारित है। यह मान्यता विशेषकर आधुनिक विज्ञान और तर्कसंगत सोच के घातक आक्रमण द्वारा दुर्बल हो गई है। जीवन के विरोधाभासों, क्रूरता, अन्याय और पीड़ा के अनुभवों से तथा सर्वशक्तिमान और दयालु भगवान के साथ इनके सामंजस्य का अभाव के कारण लोग उलझन में हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक जैसे स्पिनोजा, कॉन्ट, रूसो, बेन्थम, मिल और अन्यों ने नैतिकता के आधार को पारम्परिक धर्म के बाहर ढूँढने का प्रयास किया। धार्मिक नैतिकता और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के बीच का विभाजन लोकतन्त्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना से पूर्ण होता है। वर्तमान में अनेक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रों में नागरिकों की नैतिकता, धर्मनिरपेक्षता कानूनों और नियमों द्वारा अनुशासित है, जो कि निश्चित रूप से स्वत:सिद्ध अधिकारों और कर्तव्यों पर आधारित है, न की ईश्वर विषयक सत्यों पर। नैतिक दुविधा और संघर्ष जिनको बहुत-से लोग अपने जीवन में अनुभव करते हैं, का यही मुख्य कारण है। भारत में भी धर्म बहुत प्राचीन काल से नैतिकता का परिरक्षक रहा है, परन्तु नैतिकता नैसर्गिक नैतिक आदेश पर आधारित है। यद्यपि भारतीय संस्कृति ने नैतिकता के उच्च स्तर को प्राप्त किया है, परन्तु भारतीय सामाजिक जीवन में अनेक त्रुटियाँ हैं। जाति-प्रथा इनमें से एक है। इसका आरम्भ प्राचीन स्वधर्म के सिद्धान्त से हुआ है, जिसका मूल अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं का अपना व्यवसाय या कर्तव्य होता है, जिसका निर्धारण उसके स्वभाव या जन्मजात (अन्तर्निहित) प्रकृति या स्वभाव से होता है। जब स्वधर्म का निर्धारण जन्म के आधार पर किया जाता है, तब यह जाति-व्यवस्था को बढ़ावा देता है जो कि अभी भी भारत में सामाजिक असमानता, अन्याय और संघर्ष का एक प्रमुख कारण है।

भारत में कई शताब्दियों तक नैतिकता और दर्शन अपृथक् रहे हैं। मध्य युग में ये दोनों दो विशिष्ट क्षेत्रों में विभक्त हो गए। ८वीं शताब्दी के महान् दार्शनिक भगवान् शंकराचार्य ने अद्वैत को नीतिशास्त्र से भी उच्च या परे माना है। ये स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने नैतिकता दर्शन पर आधारित है, यह दर्शाकर नैतिकता और दर्शन का पुनर्मिलन किया। स्वामीजी ने दर्शाया कि नैतिक सिद्धान्त केवल मनु और मनीषियों (अन्य आचार संहिता के निर्माताओं) द्वारा निर्देशित सामाजिक प्रथा और आचार संहिता से नहीं प्राप्त हुए, बल्कि ज्ञानी ऋषियों के द्वारा प्राप्त परम सत्य के वास्तविक दर्शन से प्राप्त हुए हैं । स्वामीजी ने नैतिकता को अद्वैत के परम सत्य 'ब्रह्म' के आधार पर स्थापित करने का प्रथम प्रयास किया। स्वामी विवेकानन्द ने कहा : "मेरा यह विचार है कि नैतिकता और नि:स्वार्थता के उच्च आदर्श, उच्च आध्यात्मिक अवधारणा के साथ-साथ चलें और सदाचार तथा नैतिकता को प्राप्त करने के लिए आपको अपनी अवधारणा को छोड़ने की आवश्कयता नहीं है, परन्तु दूसरी ओर, नैतिकता और सदाचार के वास्तविक आधार तक पहुँचने के लिए आपके पास दार्शनिक और वैज्ञानिक अवधारणाएँ होनी चाहिए।"

स्वामीजी ने नैतिकता और सदाचार पर अपने विचार पारम्परिक सिद्धान्त के अच्छे आचरण पर नहीं, बल्कि वेदान्त दर्शन के सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर रखे हैं, जिनका उन्होंने विज्ञान के साथ सामंजस्य किया है। इस प्रकार स्वामीजी के नैतिक विचारों का जीवन के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के साथ आसानी से समन्वय किया जा सकता है। स्वामीजी के अनुसार नैतिकता आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति है।

नैतिकता और सदाचार की नई प्रणाली की आवश्यकता

यदि हम वर्तमान विश्व के सामाजिक-सांस्कृतिक दृश्य का अध्ययन करें, तो हम नई विशेषताएँ और परिवर्तन देख सकते हैं –

१. पहला परिवर्तन है – जीवन के सभी क्षेत्रों में तीव्रता से परिवर्तन ।

२. दूसरा परिवर्तन है – वैश्वीकरण। सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकी में क्रान्ति के कारण पूरे विश्व के लोग एक दूसरे की संस्कृति, मूल्यों, आवश्यकताओं को अधिक-से-अधिक जान पा रहे हैं, जिससे एक वैश्विक संस्कृति आकार ले रही है।

३. तीसरा परिवर्तन है – आध्यात्मिक अभिमुखता। एक नई आध्यात्मिकता सम्पूर्ण विश्व में फैल रही है। एक नई आध्यात्मिक जागृति, एक नई आध्यात्मिक खोज, नर-नारियों की आत्मा को जीवन्त कर रही है। लाखों लोग योग, जेन, विपश्यना और अन्य प्रकार की आध्यात्मिक साधना को अपना रहे हैं और सैकड़ों आध्यात्मिक संगठन तथा समूह अस्तित्व में आ रहे हैं।

४. चौथा परिवर्तन है, नैतिक सापेक्षवाद। मनोभाव, शिष्टाचार और आचरण, जिसे कभी अनैतिक माना गया, अब उसे नैतिक या सामान्य स्वीकार किया गया है। नरक जाने का भय या स्वर्ग-प्राप्ति का वचन अब नैतिक बनने का प्रलोभन नहीं देता है। धर्मोपदेश, नैतिक व्याख्या, आदर्शोन्मुखी शिक्षा इत्यादि, युवकों में नैतिक उत्साह जाग्रत करने के लिए पर्याप्त नहीं है। आधुनिक विश्व को नैतिकता और नीतिशास्त्र की एक नई प्रणाली की आवश्यकता है, जो शाश्वत मूल्यों से प्राप्त हुई है और इसके लिए नैतिकता का आध्यात्मिक आधार होना चाहिए। नैतिकता का लक्ष्य उच्च होना चाहिए, यह उच्च आध्यात्मिक निर्वाह की प्राप्ति का साधन होना चाहिए ।

आजकल आदर्श-शिक्षा और मूल्योन्मुखी बहुत-सी बातें होती हैं, मूल्य अपने आप में केवल विचार या द्योतक (सूचक) हैं, जबकि वास्तविकता उनसे परे है। विज्ञान बहुत प्रभावशाली है, क्योंकि यह सत्यापित तथ्यों, वास्तविकता पर आधारित है। नैतिकता को भी आत्मसत्ता की आवश्यकता होती है। आत्मसत्ता का अभिप्राय यहाँ केवल बाह्य संसार के अतीत आत्मसत्ता से ही नहीं है। इसका अर्थ मानव की देह, मन और व्यक्तित्व के पीछे की आत्मसत्ता से भी है। इसका अभिप्राय यह है कि नैतिकता का स्रोत आत्मा में स्थित होना चाहिए। नैतिक आवश्यकताएँ उपदेश-मंच और कक्षाओं से नहीं, बल्कि आत्मा से प्राप्त होनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने भी ऐसा ही कहा है।

स्वामीजी का नैतिक दर्शन

स्वामी विवेकानन्द ने हमें नैतिकता और सदाचार पर नए विचार दिए हैं जो –

. हठधर्मिता, पंथों और पौराणिक कथाओं से मुक्त हैं ।

. आध्यात्मिक, विश्व के शाश्वत सत्यों पर आधारित हैं।

. आधुनिक विज्ञान से समन्वित हैं ।

. परम सत्य की अनुभूति के लिए अभिमुख हैं।

. सर्वोच्च उद्देश्य की प्राप्ति, शाश्वत शान्ति और सभी जीवों के प्रति नि:स्वार्थ प्रेम की ओर ले जाते हैं ।

स्वामीजी ने सदाचार और नैतिकता के बारे में आधारभूत प्रश्नों को उठाया जो वर्तमान समाज से सम्बन्धित है। इनमें से दो प्रश्न स्वामीजी के नैतिक दर्शन को समझने के लिए प्रारम्भिक बिन्दु का कार्य करते हैं। ये प्रश्न हैं :

१. हमें नैतिक क्यों बनना चाहिए?

२. हमें दूसरों की भलाई क्यों करनी चाहिए?

नैतिकता और सदाचार की चर्चा में इन प्रश्नों को यदा-कदा ही उठाया जाता है। सामान्यत: ये ही प्रश्न पूछे जाते हैं – मुख्य सद्गुण कौन से हैं? उनका अभ्यास कैसे किया जाए? सदाचार में कौन से नैतिक मानदण्ड प्रयोग किये जाते हैं? स्वामीजी द्वारा उठाये गए ये प्रश्न नैतिकता और सदाचार के तात्त्विक आधार की गहराई तक जाते हैं।

हमें नैतिक क्यों बनना चाहिए?

आधुनिक मानव के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। किसी व्यवसायी, सरकारी अधिकारी, किसी पुलिसकर्मी और अभियन्ता को बेईमानी करके अधिक-से-अधिक धन क्यों नहीं कमाना चाहिए? किसी व्यक्ति को विवाह की प्रतिज्ञा क्यों नहीं तोड़नी चाहिए? किसी व्यक्ति को दूसरों को धोखा या हानि क्यों नहीं पहुँचानी चाहिए? किसी विद्यार्थी को परीक्षा में नकल क्यों नहीं करनी चाहिए?

कई लोगों के लिए, जिनका मन देश के धर्मनिरपेक्ष कानून द्वारा अनुशासित है, इसका उत्तर होगा : हमें इसलिए

नैतिक बनना है, क्योंकि हमें कानून के लम्बे हाथों या पुलिस या समाज की निन्दा का सामना करना पड़ेगा। इसके बारे में जूडो-क्रिश्चन और इस्लाम का उत्तर है कि हमें नैतिक इसलिए बनना चाहिए, क्योंकि यह ईश्वरीय आदेश है और ईश्वरीय नियम का कोई भी उल्लंघन करने से अलौकिक दण्ड मिलता है। हिन्दू, बौद्ध और जैन परम्परा का कहना है कि हमें नैतिक इसलिए होना चाहिए, क्योंकि यह धर्म की आज्ञा है और धर्म का कोई भी उल्लंघन करने से कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है, अगर इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में अवश्य ही भोगना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, पारम्परिक नैतिकता भय और विवशता पर आधारित है। हमें नैतिक क्यों होना चाहिए? तीसरी शताब्दी ई.पू. में चीन के कन्फयूशियन दार्शनिक, मेनसियस (मेन-जु) ने सबसे पहले यह प्रश्न उठाया था। उनका उत्तर था : हमें अच्छा बनना चाहिए, क्योंकि अच्छाई 'हमारा वास्तविक स्वरूप है'। इसका अर्थ है कि सदैव अच्छा बनना हमारा सहज स्वभाव है। अपने वास्तविक स्वरूप से पतन होने को अनैतिकता कहते हैं। हमें लोगों या ईश्वर के भय के कारण अच्छा और नैतिक नहीं होना चाहिए बल्कि इसलिए होना चाहिए क्योंकि हम वास्तव में और सही मायने में अच्छे हैं। दो हजार वर्षों के बाद स्वामी विवेकानन्द ने ऐसा ही प्रश्न उठाया। उन्होंने पूछा, ''मैं स्वार्थी क्यों न होऊँ? और क्यों अच्छा होऊँ?'' स्वामाजी ने जो उत्तर दिया, वह मेनसियस नामक दार्शनिक के द्वारा दिए गए उत्तर के समान था : ''हमारा अन्तर्निहित स्वरूप अच्छा और दिव्य है''। मेनसियस यह नहीं बता सके कि हमारा 'वास्तविक स्वरूप' क्या था। भारत में १००० वर्ष या इससे भी पहले उपनिषदों के ऋषि-मुनियों ने, 'मनुष्य के वास्तविक स्वरूप', 'मानव के यथार्थ सत्य के स्वरूप' का अनुसन्धान किया। मुनियों ने, जिन्हें ऋषि भी कहा जाता है, अनुसंधान किया कि मनुष्य के यथार्थ सत्य का स्वरूप जिसे आत्मा कहा जाता है, शुद्ध चैतन्य है, जिसका प्राय: चेतना और बोध के रूप में विवेचन किया जाता है (उचित प्रकार से नहीं)। ऋषियों ने यह भी खोज की कि यह आत्मा या यथार्थ सत्य, असीम चैतन्य जिसे 'ब्रह्म' के नाम से जाना जाता है, का एक अंश या प्रतिबिम्ब है। हम जिसे ब्रह्माण्ड के रूप में देखते हैं, वह केवल एक प्रतीति है, एक तथ्य है, आधुनिक विज्ञान ने भी अब इसे स्वीकार किया है। इस ब्रह्माण्ड के पीछे परम सत्य 'ब्रह्म' है, जो ईश्वर या ब्रह्म के रूप में भी लोकप्रिय एवं ज्ञात है।

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आत्मा है, जो सम्पूर्ण ज्ञान, आनन्द, शक्ति, प्रेम – जिन्हें हम सभी अपने जीवन में चाहते हैं – का परम स्रोत है, परन्तु अज्ञानता के कारण साधारण लोग यह तथ्य नहीं जानते हैं। इसलिए साधारण लोगों में आत्मा स्वरूपत: अव्यक्त है। इस विचार को स्वामीजी ने इस प्रकार व्यक्त किया – ''प्रत्येक जीव स्वरूपत: अव्यक्त ब्रह्म है।'' नैतिकता और कुछ नहीं, केवल हमारे विचारों, शारीरिक कर्मों द्वारा अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। कहने का अर्थ यह है – अच्छा बनना, धार्मिक या पवित्र बनना, नैतिक बनना, हमारा सहज स्वरूप है, स्वभाव है, यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

अनैतिक होना एक अस्वाभाविक अवस्था है। अपवित्रता, धोखाधड़ी, हिंसा, हत्या और अन्य अनैतिक कर्म, आत्मा को अभिव्यक्त होने से रोकती है। लोग अज्ञानता के कारण कर्म करते हैं। इसलिए स्वामीजी ने कहा, ''हमारे धर्म में बुराई या पाप के लिए कोई सिद्धान्त नहीं है।'' इस प्रकार सत्य का ज्ञान, आत्मज्ञान नीति-शास्त्र का आधार है। नीचे दिये गये कथन में स्वामीजी के नैतिक विचार सारांश में दिए गए हैं, जो उन्होंने अमेरिका में दिए गए अपने भाषण में कहा था – ''उन्हें यह कहने की अपेक्षा कि वे पापी हैं, वेदान्त का विपरीत कथन है, वेदान्त कहता है, 'आप शुद्ध और पूर्ण हैं, आप पापी नहीं हैं अर्थात् आप जिसे पाप कहते हैं, वह आपके अन्दर नहीं है। पाप आत्म-अभिव्यक्ति का निम्न स्तर है। अपनी आत्मा के उच्च स्तर को अभिव्यक्त कीजिए। हमें इस बात को याद रखना है, हम सभी यह कर सकते है।''

हमें दूसरों की भलाई क्यों करनी चाहिए?

नैतिकता दो प्रकार की है : निष्क्रिय (Passive) और सक्रिय (Dynamic)। कुछ भी बुरा करने से दूर रहना और अच्छा बनना निष्क्रिय (Passive) नैतिकता है। ''हम नैतिक क्यों बनें?'' यह पहला प्रश्न निष्क्रिय नैतिकता से सम्बन्धित है। स्वामी विवेकानन्द के लिए नैतिकता का अर्थ सक्रिय नैतिकता से है। जिसका अर्थ केवल अच्छा बनना ही नहीं है, परन्तु दूसरों का भला करना भी है। इसका

शेष भाग पृष्ठ २७६ पर

प्रश्नोपनिषद् (१)

श्रीशंकराचार्य

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बद्ध गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, ये उन्हीं के संकलन हैं। वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु आचार्य ने इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। प्रश्नोपनिषद् पर लिखे उनके भाष्य का, 'विवेक-ज्योति' के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया गया सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
ॐ शान्तिः !! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अन्वयार्थ – **देवाः** हे देवगण, (हम) **कर्णेभिः** कानों के द्वारा **भद्रं** मंगलकारी वाणी **शृणुयाम** सुनें; **यजत्राः** हे यजनीय (देवगण), (हम) **अक्षिभिः** नेत्रों के द्वारा **भद्रं** सुन्दर वस्तुएँ **पश्येम** देखें; **स्थिरैः** सुदृढ़ **अङ्गैः** हाथ-पाँव आदि अंगों (तथा) **तनूभिः** शरीर के साथ युक्त होकर **तुष्टुवाँसः** आप लोगों की स्तुति करके **देवहितं** देवकर्मों में रत होकर **यत्** जो **आयुः** जीवनकाल है, (उसे) **व्यशेम** प्राप्त करें।

भावार्थ – हे यज्ञ के उपयुक्त देवगण, (हम) कानों के द्वारा मंगलकारी वाणी सुनें; नेत्रों के द्वारा सुन्दर वस्तुएँ देखें; सुदृढ़ (हाथ-पाँव आदि) अंगों वाले शरीर के साथ युक्त होकर (हम) आप लोगों की स्तुति करके देवकर्मों में रत होकर (अपना) जो जीवनकाल है, (उसे) प्राप्त करें।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अन्वयार्थ – **वृद्धश्रवाः** महा-कीर्तिमान् इन्द्र देवराज इन्द्र **नः** हमारे लिये स्वस्ति मंगलकारी हों; **विश्ववेदाः** महा-समृद्धिवान् **पूषाः** पूषा (पृथ्वी के देवता) **नः** हमारे लिये **स्वस्ति** मंगलकारी हों; **अरिष्टनेमिः** विघ्नों के नाशक **तार्क्ष्यः** गरुड़ **नः** हमारे लिये **स्वस्ति** मंगलकारी हों; **बृहस्पतिः** देवगुरु बृहस्पति **नः** हमें **स्वस्ति** कल्याण दधातु प्रदान करें। **शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!** त्रिविध विघ्नों या तापों की शान्ति हो।

भावार्थ – महा-कीर्तिमान् देवराज इन्द्र हमारे लिये मंगलकारी हों; महा-समृद्धिवान् पूषा (पृथ्वी के देवता) हमारे लिये हितकारी हों; बुराइयों के नाशक गरुड़ हमारे लिये मंगलकारी हों; देवगुरु बृहस्पति हमें कल्याण प्रदान करें। त्रिविध विघ्नों या तापों की शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

सम्बन्ध-भाष्य – मन्त्रोक्तस्य अर्थस्य विस्तर-अनुवाद-इदं ब्राह्मणम्-आरभ्यते। ऋषि-प्रश्न-प्रतिवचन-आख्यायिका तु विद्या-स्तुतये।

भाष्यार्थ – (अथर्ववेद-संहिता के) मंत्रों में कथित तात्पर्य के सविस्तार पुनर्कथन के रूप में यह ब्राह्मण भागीनय उपनिषद् आरम्भ की जाती है। इसमें ऋषि (पिप्पलाद) से प्रश्न तथा उनके उत्तर के रूप में यह आख्यायिका – ब्रह्मविद्या (ज्ञान) की स्तुति के लिए है।

भाष्य– एवं संवत्सर-ब्रह्मचर्य-संवास-आदि-युक्तैः तपो-युक्तैः ग्राह्या पिप्पलाद-आदिवत् सर्वज्ञ-कल्पैः आचार्यैः वक्तव्या च, न सा येन केनचिद्-इति विद्यां स्तौति। ब्रह्मचर्य-आदि-साधन-सूचनात् च तत्-कर्तव्यता स्यात्।

(जैसा कि कहा जा चुका है) इस प्रकार एक वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक, (गुरु के सान्निध्य में) निवास आदि और तपस्या से युक्त व्यक्ति के द्वारा ही – पिप्पलाद आदि के समान सर्वज्ञ-तुल्य आचार्य के द्वारा ही कही जानेवाली ये बातें ग्रहण करने योग्य हैं। ब्रह्मचर्य आदि साधनों के संकेत से उनका पालन करना भी कर्तव्य हो जाता है । **(क्रमशः)**

जिस प्रकार बादलों के चलने पर चन्द्रमा चलता सा दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण मनुष्य आत्मा को ही शरीर मान लेता है। – श्रीशंकराचार्य

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (४२)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

१६ फरवरी, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

प्रिय युम, मुझे आशंका है कि कदाचित् तुम कभी भारत नहीं लौटोगी और यह भी सम्भव है कि मैं दुबारा कभी पश्चिम में न जा सकूँ और यदि ऐसा हुआ, तो हम कभी मिल नहीं सकेंगे! कितनी विचित्र बात है! एक ऐसा संसार और एक ऐसा जीवन जिसमें तुम्हारे साथ कभी भेंट न हो, कितना विचित्र प्रतीत होता है! तथापि ऐसा सम्भव है। तथापि आयु में वृद्धि के साथ-ही-साथ मृत्यु के बाद के जीवन के विषय में व्यक्ति का दृष्टिकोण सहजतर होता जाता है। मैंने देखा था कि किस प्रकार स्वामीजी मृत्यु के बिल्कुल पूर्व तक 'अपने वृद्ध गुरुदेव' के साथ पुनर्मिलन के भाव से अभिभूत थे। यदि (उनके लिये) वह सत्य था, तो फिर (हमारे लिये) यह सत्य क्यों नहीं होगा? दूसरों के लिये भी पुनर्मिलन और मूल्यांकन अवश्य होगा। जैसा कि सात वर्ष पूर्व, उस प्रथम भारतीय संध्या के समय उन्होंने मुझसे कहा था, "वत्स, तुमने बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया!" अपने जीवन के मूल्यांकन के लिये व्यक्ति कितना आकुल रहता है। ...

श्रीमाँ सारदा देवी के साथ निवेदिता

मैं निश्चित रूप से अनुभव करती हूँ कि वे सर्वदा जो कुछ थे,सहज भाव से जितनी कल्पना की जा सकती है, वे उससे भी कहीं अधिक वही होंगे। उनके जीवन की छोटी-मोटी चीजें ही कदाचित् गहनतम और उनके चरित्र की विशिष्टतम पहचान थी। परन्तु प्रिय युम, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं-न-कहीं अस्फोडेल (कुमुद) तथा क्रोकस (केसर) के मैदान अवश्य होंगे, जिनसे होकर जलप्रवाह गुजरता होगा, जहाँ तुम और मैं उनके आलोक में निवास करेंगे और उन्हीं के साथ विचरण करेंगे!

कश्मीर कल्पना का एक कितना अद्भुत रूपायन था! मैं यह भी महसूस करती हूँ कि मृत्यु के परवर्ती समय के दौरान एक अद्भुत शान्ति का आविर्भाव होगा और तब सम्पूर्ण जीवन-काल के संस्कारों को एकत्र किया जाएगा और उनका पुनर्गठन करके उन्हें एक नवीन चरित्र में रूपान्तरित कर दिया जाएगा। उस समय व्यक्ति प्रार्थना करता है कि वह पूरी तौर से ईश्वर के हाथों में पिघली हुई धातु के समान हो जाय, हम परमात्मा की इच्छा से पिघल जाएँ और हमारी अपनी अहंता कभी उस निर्माण-कार्य को सीमाबद्ध न करे।

इसके बाद छुट्टियों से लौटे एक भृत्य के समान, एक अवकाश से लौटे एक सैनिक के समान व्यक्ति अपने निर्धारित कर्मों में जुट जाने के लिये लौट जाता है। मुझे ऐसा ही महसूस होता है – एक इच्छा, जो आगे के जीवनों में पहुँचेगी और उन सभी को अभिभूत करके उनका उत्सर्ग करेगी।

१२ अप्रैल, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

स्वामीजी अतीत काल के लूथर या मुहम्मद के समान थे। उनके विश्वास राष्ट्रीय मन की इमारत का रूप धारण करेंगे। सभी जातियों तथा सभी सम्प्रदायों के तीस करोड़ नर-नारियों के जीवन में उनके स्मारक का निर्माण किया जाएगा। इसके साथ ही, कदाचित् विश्वास शब्द का एक महान् नवयुग आरम्भ होगा।... मेरी कामना है कि मैं भी इस मन्दिर के निर्माण में कुछ ईंटें ढोकर ले जाऊँ।

बुखार के समय मेरे मन में अद्भुत विचार जाग्रत हुए। मैंने सोचा कि इतिहास में पहली बार कोई पुरुष अपना 'मिशन' किसी नारी को सौंप गये। परन्तु अब मैं भविष्य के लिये केवल शान्ति तथा अवकाश ही देख रही हूँ और मुझे अपना कोई महत्त्व नहीं दिखाई देता। खैर, हम जो देखते हैं, उसे देखेंगे।

४ मई, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

उस दिन शाम को, नदी में सहसा तूफान आ जाने पर, स्वामी सारदानन्द डूबने से बाल-बाल बचे। क्या तुम्हें उस तूफान की बात याद आती है – आँधी, अँधेरा बरामदा और स्वामीजी के साथ चहलकदमी? ओह युम, उस समय तुम्हारे साथ होने के लिये कितनी कृतज्ञ हूँ!

हाँ, यह सत्य है कि बिना किसी आनन्द या अनुभूति के कोई कार्य नहीं हो सकता। व्यक्ति केवल अतीत को लेकर नहीं जी सकता। स्वामीजी ने, श्रीरामकृष्ण की स्मृतियों के ही आधार पर जीवन नहीं बिताया। उन्होंने प्रतिदिन अपने जीवन को नवीन बनाया और नई-नई चीजें सीखीं। यह सब कुछ सत्य है। मैं इतनी थकी हुई हूँ कि आगे नहीं लिख सकती।

१६ मई, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

बाहर आँधी-भरी रात है मकान के चारों ओर चल रही वायु के रुदन की आवाज के बीच, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो आत्मा अनन्त के लिये क्रन्दन कर रही हो।

२१ जुलाई, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

सुना कि स्वामीजी ने जब शिकागो के बाद ही लौटने के लिये (वराहनगर) मठ छोड़ा, उस समय उन्होंने कुछ लोगों से अपनी इस प्रतिज्ञा के विषय में कहा था कि जब तक वे दस हजार लोगों को रामकृष्ण के नाम में दीक्षित नहीं कर लेंगे, तब तक वापस नहीं लौटेंगे। मुझे लगता है कि तुम भी वही कर रही हो। पूरी दुनिया में भ्रमण करती हो और लोगों को उनका नाम लेने की प्रेरणा प्रदान करती हो।

ओह प्रिय युम, क्या वह एक अतुलनीय वर्ष नहीं था, जब तुम और मैं बेलूड़ में घास पर टहला करते थे और जब हमने पर्वतों को देखा, कश्मीर तथा अमरनाथ देखा और मैंने उस छोटी-सी गली में एकाकी निवास किया था! अहा, वह एक अद्‌भुत वर्ष था! जितनी ही मेरी आयु बढ़ती जाती है, उतना ही अधिक मैं उसके विषय में और उसके हृदयकेन्द्र के रूप में तुम्हारे विषय में सोचती हूँ।

वे जो थे, सो थे, परन्तु तुमने मुझे यह सिखाया कि कैसे अपने अहंभाव को दबाकर (उनकी) महिमा का दर्शन करना चाहिये। इस ऋण को मैं कभी चुका नहीं सकूँगी।

१५ नवम्बर, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

यह प्राय: निश्चित प्रतीत होता है कि इन सर्दियों के दौरान तुम अमेरिका में ही रहोगी। तुम्हारे आश्रय में, वहाँ की शान्ति एवं मधुरता का आस्वादन और एकान्त में स्वामीजी का चिन्तन – हाँ, काफी-कुछ देकर भी मैं इसे पाना चाहूँगी। परन्तु जब मैं स्वयं को सौंपे गये उस उत्कृष्ट कार्यभार के विषय में सोचती हूँ, तो यह सब कहना भी – कितना अनुचित और अकृतज्ञता प्रतीत होता है। अपने जीवन के समक्ष मानो उस विशेष पर्दे के समक्ष, जिस पर मेरा ईश्वर-दर्शन प्रक्षेपित हुआ हो, मुझे सर्वदा श्रद्धा एवं मौन के साथ रहना होगा, ताकि वह वास्तविक तथा बाह्य जीवन में रूपायित हो सके। हमें वे सर्वदा सचेत कराते रहते थे कि जहाँ हम लोगों ने सेवा की है, वस्तुत: वहीं हमें सेवा का अधिकार मिला है – और स्वामीजी की बातों में, यही हमें सर्वाधिक सत्य प्रतीत होती है। ...

मुझे बहुत-सी चीजों का ज्ञान होता जा रहा है – त्याग की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है – सर्वदा स्वाधीनता की खोज करना, इस स्वाधीनता के मार्ग में बाधक होनेवाले मधुरतम सुखों को भी क्षण भर में ही त्याग देना, उत्तम और अधम के बीच, सत्य और मिथ्या के बीच विवेक करना, कभी भी अनुचित खाद्य ग्रहण करने के स्थान पर भूखे रहकर सन्तुष्ट होना, यह सब मुक्ति के इतना निकट है, जितना कि मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था।

एक चीज और है – वह अद्‌भुत सरलता ही सच्ची धीरता का एक अंग है। जब हम लोग दार्जिलिंग से विदा ले रहे थे, उस समय मैंने अपनी लिखने की मेज के ऊपर से बर्न जोन द्वारा अंकित 'पवित्र प्याले' (होली ग्रेल)[१] का एक फोटोग्राफ उठा लिया था; ऐसा करते समय मैंने सोचा था, "पवित्र प्याले का एक 'देवदूत' होना कितनी अद्‌भुत बात है! अहा, यदि कोई समझ पाता कि इस तरह की एक सहज पूजा और उसके प्रति समर्पण, यही व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्तव्य है!" तब मैंने देखा कि सबके पास एक 'पवित्र प्याला' है और जहाँ कहीं भी सम्भव हो, एक अटल दृष्टि के साथ इसकी पूजा करना, यही व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्तव्य है।

जब व्यक्ति के जीवन में दुर्भाग्य के काले दिन आते हैं, तब प्रेम तथा बलिदान की उसकी अपनी क्षमता के द्वारा ही परमात्मा अभिव्यक्त होते हैं। इसके बाद, अचानक ही पर्दे गिर जाते हैं; फिर प्रियतम प्रकट होता है और बोलता है। क्या यह सत्य नहीं है? **(क्रमश:)**

१. 'होली ग्रेल' – वह प्याला, जिसमें ईसा मसीह ने अपना अन्तिम भोजन किया था।

अगर मन एकाग्र न हो तो भी मन्त्र-जप नहीं छोड़ना चाहिए। अपना काम-काज करो। निरन्तर जप करते रहने से मन निवात-निष्कम्प दिये की लौ के समान हो जाता है। हवा ही लौ को कम्पित करती है। इसी प्रकार हमारी वासनाएँ और इच्छाएँ मन को चंचल बनाती हैं।

– श्रीमाँ सारदा देवी

प्रेरक लघुकथा

डॉ. शरद चन्द्र पेंढारकर

सादा जीवन, उच्च विचार, निःस्पृहता का है आधार

महर्षि रमण सादगी-प्रिय थे। मितव्ययिता का सदा ध्यान रखते थे। शरीर को ढकने के लिये एक कौपीन मात्र पहनते थे। उनके पास एक ही वस्त्र था। एक दिन वह भी जीर्ण होकर फटने लगा, तो उन्हें चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि जब तक यह पूरी तरह से फट नहीं जाता, तब तक इसकी सिलाई कर पहनने योग्य बनाया जा सकता है। किन्तु उनके पास सुई-धागा नहीं था तथा खरीदने के लिए उस समय पैसे भी नहीं थे। जो पैसे थे, वे अन्य खर्चों के लिए पर्याप्त थे। अयाचक वृत्ति होने से किसी से मांग नहीं सकते थे। वे दुविधा में पड़ गए कि कौपीन की कैसे सिलाई की जाए। अचानक उन्हें उपाय सूझा। वे एक बबूल के पेड़ के पास गए और दो-तीन काँटे तोड़ ले आए। अब प्रश्न उठा कि धागा कहाँ से लाया जाए? तो इसका भी उपाय उनके ध्यान में आया। एक कोनों का धागा खींचकर निकाला और इस तरह काँटे के सहारे उन्होंने रफू करके फटे भाग को सी डाला। पैसे का अपव्यय न होने से उन्होंने आत्मसन्तोष का अनुभव किया। उनका जीवन दूसरों के लिये आदर्श होने के कारण उन्हें 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया गया।

सादगी से जीवन जीनेवाले व्यक्ति 'सादा जीवन, उच्च विचार', इस उक्ति को अपने जीवन में आचरण करने का संकल्प लेते हैं। अपव्यय से वे बचते हैं। सादगी, मितव्ययिता, निःस्पृहता एवं सेवा-परायणता उनके जीने के अभिन्न अंग होते हैं। इससे समय, श्रम और धन की बचत होती है। ❍❍❍

जिन-जिन मन आलस किया, जनम-जनम सब जन पछताया

घटना उस समय की है, जब डॉक्टर जाकिर हुसैन राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति नहीं बने थे। उनके घर में एक नौकर था, जो बड़ा आलसी था। वह स्वयं कोई काम नहीं करता था। जो भी करता, अनिच्छा से करता था। घर के दूसरे सदस्य डाँटते-फटकारते तो डॉक्टर साहब को बुरा लगता था। वे कहते थे कि किसी का भी दिल नहीं दुखाना चाहिए। इसलिए वे भी उसे अधिक काम नहीं बताते थे। इससे वह नौकर आलसी बन गया था। आसपास के नौकरों को अधिक काम करते देख और उनको असन्तुष्ट जानकर वह अपने को भाग्यशाली समझता था।

एक दिन डॉ. जाकिर हुसैन सुबह जल्दी उठे। प्यास लगी, तो बाहर सोये नौकर को आवाज लगाई। उसके न उठने पर दो-तीन बार नाम लेकर पुकारा। फिर भी न जागने पर स्वयं ही पानी पी लिया। उन्होंने अपने लिये चाय बनाई और पीने के बाद देखा, तो नौकर अभी भी सो रहा था। उठाने की कोशिश करने पर भी जब वह न उठा, तो वे चाय का प्याला लेकर आए और नौकर से कहा, ''मालिक उठिये! सबेरा हो गया है, कुल्ला करके चाय को पियें।'' नौकर ने सुना, तो समझा सपना है, इसलिए उठा नहीं। तब उन्होंने प्याले की आवाज निकाली। इससे हड़बड़ाकर उठ बैठा। सामने मालिक को हाथ में चाय का प्याला लिये देख काटो तो खून नहीं की-सी उसकी स्थिति हो गई। पश्चात्ताप करते हुए उसने कान पकड़े और प्रतिज्ञा किया कि अब वह अपने काम में कभी कोई त्रुटि नहीं करेगा। उस दिन के बाद उसने जल्दी उठने और स्वयं ही घर के काम करने की आदत डाली। घर के अन्य सदस्य उसमें हुए परिवर्तन का रहस्य कभी जान न सके।

दूसरों से काम कराना भी एक कला है। डाँट-फटकार इसका सही उपाय नहीं है। इससे वे काम करने से जी चुराने लगते हैं। कुछ तो बुरा मानकर जवाब देने से नहीं कतराते। उनके आलस और कामचोरी की आदत को छुड़ाने का एक उपाय है, उनके साथ सद्व्यवहार करना और सदाचार बरतना। इससे उनमें सुधार आने की सम्भावना बन जाती है। ❍❍❍

आध्यात्मिक जिज्ञासा (५४)

स्वामी भूतेशानन्द

प्रश्न – महाराज! साधुता को बचाते हुए कैसे प्रशासनिक कार्य करना सम्भव है?

महाराज – सोचकर देखो, चिन्तन करो, तो उत्तर प्राप्त करोगे।

– नहीं महाराज, थोड़ा विस्तार से समझा दीजिए।

महाराज – बताया तो, स्वयं चिन्तन कर आत्म-विश्लेषण करो।

– महाराज, स्पष्ट कह रहा हूँ। प्रशासनिक कार्य हेतु राजबुद्धि की आवश्यकता है। साधुता और राजबुद्धि एक साथ कैसे सम्भव है?

महाराज – (थोड़ा रुष्ट होकर) अपने को राजा क्यों सोच रहे हो? सेवक समझो। तभी साधुता बचाकर प्रशासनिक कार्य कर सकोगे।

– कोई-कोई कार्य करा लेने को कहते हैं ...

महाराज – क्या मिथ्या का आश्रय लेना पड़ता है? मिथ्या बोलना पड़ता है? ठाकुर ने इतना सत्य पर बल दिया है, रुपये के लिये कभी असत्य का आलम्बन मत लेना। इससे चाहे संघ रहे या न रहे। (महाराज गम्भीर होकर मौन हैं। सभी मौन हैं।) सत्य के साथ कभी आपस में समझौता नहीं करना। रुपये के लिए बड़े लोगों को महत्त्व देने से सर्वनाश होगा।

– किन्तु महाराज! इस कर्म के कारण मन बहिर्मुखी हो जाता है।

महाराजा – अत्यन्त आत्मविश्लेषण की आवश्यकता है। यदि इस भाव से कार्य करो कि यह ठाकुर का है, तो कोई क्षति नहीं होगी।

''यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।''
''नगर घुमो, ऐसा सोचो प्रदक्षिणा श्यामा माँ की।
आहार करो, तो सोचो आहुति देता श्यामा माँ को।।''

यहाँ चालाकी नहीं चलेगी।

– कार्य करते समय सबके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए?

महाराज – इसके लिये अत्यधिक आत्मविश्लेषण का प्रयोजन है। प्रत्येक पग में अपना विश्लेषण करना पड़ता है। कई लोग कहते हैं – क्या! दो दिन का लड़का हमारे सामने बात करता है! वे लोग यह नहीं जानते हैं कि आज जो लड़का दो दिन का लड़का है, वह कल दस दिन का हो जायेगा। मैं सक्षम, उच्च पद पर हूँ, ऐसा न सोचकर, सबके साथ मधुर व्यवहार करना चाहिए। आदेश न देकर समझाकर कहने से मनुष्य समझता है। वास्तव में व्यक्ति स्वयं ही अपने आपको नियन्त्रित नहीं करने के कारण रुष्ट होकर चिल्लाने लगता है। चिल्लाने से ही आदेश नहीं होता है। एक बार एक स्थान पर पढ़ा था – एक सेनापति बहुत मधुरभाषी थे। कई लोग उनको देखकर आश्चर्यचकित होते थे। लोग उनसे पूछते थे इतने नम्र मधुर गला से नियन्त्रित करना कैसे सम्भव है? उन्होंने कहा था – ''नियन्त्रण हेतु चिल्लाने की आवश्यकता नहीं होती।''

– मान लीजिए महाराज! हमारे कोई सहयोगी कुछ दिन के लिए किसी तीर्थ-यात्रा में जाना चाहते हैं। मैं उसे कैसे समझाऊँगा?

महाराज – देखना, उसके नहीं रहने से क्या कठिनाई हो सकती है। उसी कठिनाई को उसे समझाकर बताना। समझाकर बताने से वह समझेगा। ऐसा न कर यदि तुम चिल्लाकर डाँटते हुए कहो – नहीं, जाना नहीं होगा इत्यादि, तो उसके मन में बुरा लगेगा। ऐसा व्यवहार पाकर उसके मन में दुख का बीज अंकुरित होता है। बाद में समझाने पर भी वे लोग सुनना नहीं चाहते, समझना नहीं चाहते। सबको उसका सम्मान देना पड़ता है। श्रीमाँ ने कहा है – 'झाड़ू को भी सम्मानपूर्वक रखना चाहिए।''

एक घटना याद आ रही है। चिदात्मानन्द (आलोपी

महाराज) ने एक साधु को बहुत डाँटा। उन साधु के चले जाने के बाद मैंने चिदात्मानन्दजी को कहा – ''मात्रा थोड़ी अधिक हो गयी है।'' उन्होंने मेरी बात सुनकर उन साधु को बुलाकर कहा – ''समझा? तुमको डाँटा हूँ, इसलिए भूतेशानन्द स्वामी मुझे डाँट रहे हैं, कह रहे हैं – ''परिमाण थोड़ा अधिक हो गया है। तुम कुछ बुरा मत मानना।'' बुलाकर इस प्रकार कहने से, उनका मन कितना हल्का हो गया! नहीं तो उनके मन में दुख का बीज अंकुरित हो जाता।

– अच्छा महाराज! क्या हमेशा मधुर वाणी से काम होता है?

महाराज – हमेशा कठोर बात से भी क्या काम होता है?

– आप तो सदा सबके साथ ही मधुर बात करते हैं। कैसे मधुर बात से कार्य हो रहा है?

महाराज – कार्य नहीं हो रहा है, तो क्या अकार्य हो रहा है?

– नहीं, ऐसी बात नहीं है। किन्तु हम लोग वास्तव में यह सोचकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि आप कैसे सबके साथ मधुर व्यवहार कर सकते हैं!

प्रश्न – महाराज! ठाकुर ने माँ को कहा था – ''किसी के सामने हाथ मत फैलाना। हाथ फैलाने से उसके पास सिर बेच देना पड़ता है।'' हमलोग आश्रम के लिये लोगों से जो रुपये माँग रहे हैं!

महाराज – तुम तो अपने लिये नहीं माँग रहे हो, आश्रम के लिये माँग रहे हो। आश्रम के लिए लेने से तुम्हारा लेना नहीं होगा।

– महाराज, साधारणत: देखा जाता है कि लोग व्यक्तिगत प्रभाव के कारण ही दान करते हैं।

महाराज – व्यक्तिगत प्रभाव से धन-संग्रह ही हमलोगों को अधोगामी करता है। दान लेने के लिये यदि नियम का उल्लंघन करना पड़े, तो मत लेना। किन्तु रुष्ट होकर मत बोलना, विनम्रता से बोलना। एक घटना याद आ रही है। मुम्बई में दान-संग्रह कर रहा था। एक व्यक्ति मुझे एक मुहल्ले में परिचय कराने के लिये ले गया। यदि मैं स्वयं जाऊँ, तो वह कुछ नहीं देगा। इसलिए उन लोगों का एक परिचित व्यक्ति मुझे ले गया था। चन्दा माँगते ही एक ने मुझसे पूछा – ''आप लोग वहाँ छात्रावास में हरिजन भी रखते हैं?'' मैंने कहा – ''वहाँ रहनेवालों में कोई हरिजन छात्र नहीं है, किन्तु मिलने पर हमलोग रखेंगे।'' यह बात सुनते ही उसने कहा – ''नहीं, मैं आप लोगों को दान नहीं दूँगा।'' मैंने भी हाथ जोड़कर कहा – ''आपके दान की हमलोगों को कोई आवश्यकता नहीं है।''

– महाराज, किसी के पास हाथ न फैलाने की बात हो रही थी। आपने कहा कि अपने लिए किसी के पास हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु तीर्थ-यात्रा में जाने पर तो हाथ फैलाना पड़ता है।

महाराज – तीर्थ-यात्रा में मत जाना।

– ऐसा है!

महाराज – हाँ, मैं तो तीर्थाटन में नहीं जाता था। किन्तु तपस्या करने गया हूँ। मैं तीर्थ-यात्रा में नहीं जाता था, यह कोई चमत्कार नहीं है। हमारी इच्छा नहीं होती थी। ऐसा ही हमारा स्वभाव था। रुपया-पैसा तो कोई-न-कोई दे सकता है, किन्तु इच्छा तो दूसरा कोई नहीं दे सकता। **(क्रमश:)**

साधन-भजन की पहली अवस्था में कुछ नियमों का पालन करना बहुत अच्छा है – इतने समय तक जप करूँगा, इतने समय तक ध्यान करूँगा, इतने समय तक पाठ करूँगा इत्यादि। अच्छा लगे या ना लगे। मैं अपने नियम का अवश्य पालन करूँगा – इस प्रकार का एक हठ रखना चाहिए। कुछ दिन इस तरह करने से अभ्यास हो जाता है। जैसे अभी जप-ध्यान करना अच्छा नहीं लगता, उस समय ठीक उलटा होगा। तब जप-ध्यान नहीं करने से मन में बेचैनी होगी। जब मन की ऐसी अवस्था होगी, तब समझना कि तुम लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे बढ़े जा रहे हो। भोजन न मिलने से, नींद न ले सकने से जैसे कष्ट होता है और मन छटपटाता है, भगवान के लिए जब मन की ऐसी ही अवस्था होगी, तब समझना कि वे तुम्हारे सन्निकट हैं।

भगवान हैं, धर्म है – ये सब कोरी बातें नहीं हैं या नीति के रक्षार्थ नहीं हैं। सचमुच ही वे हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय हैं। उनसे अधिक सत्य और कुछ नहीं है। कट्टरता अच्छी नहीं है। धीर, स्थिर, संयमी होना होगा।

– स्वामी ब्रह्मानन्द

गीतातत्त्व-चिन्तन (६)

नवम अध्याय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ और २, अध्याय १ से ६वें तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ८वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के सितम्बर, २०१६ से नवम्बर, २०१७ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ९वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है – सं.)

संसार में निर्लिप्त होकर रहना ही सर्वोच्च सिद्धि

श्रीरामकृष्ण से किसी ने आकर कहा था, "महाराज, एक बहुत सिद्ध हैं और बहुत चमत्कार दिखाते हैं।" "क्या चमत्कार दिखाते हैं?" उसने कहा कि ऐसा चमत्कार दिखाते हैं कि किसी का रोग ठीक कर देते हैं। किसी मरे हुए से कहते हैं कि तू ठीक हो जा। उसको जिला देते हैं। यह सब कर देते हैं। कई प्रकार की सिद्धियाँ उनके जीवन में दिखाई देती हैं। श्रीरामकृष्ण ने हँसकर कहा कि मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार है - अपनी इन्द्रियों और मन को वश में करना। इससे बढ़कर और कोई चमत्कार नहीं है। इस संसार में असंग होकर रहना। कितना अद्भुत है! उनका यह वाक्य सुनने में तो बहुत छोटा है। लगता है श्रीरामकृष्ण ने यह क्या बात कही! पर जब हम गम्भीरता से मनन करते हैं, तो समझ में आ जाता है कि इससे बढ़कर चमत्कार इस मनुष्य-जीवन में नहीं हो सकता कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन कर ले, अपने मन को अपने वश में कर ले। इससे बढ़कर सचमुच कोई चमत्कार नहीं है। यह असंगता का भाव क्या है! जैसे भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं न! अनासक्त पुरुष किस प्रकार से काम करे?

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।३.२५।।

इससे बड़ा अचरज क्या है? – हे अर्जुन! जैसे आसक्त लोग आसक्ति के कारण घोर कर्म करते दिखाई देते हैं। हमारी कोई आसक्ति होती है, चाह होती है, वासना होती है, लालसा होती है, उसी की पुष्टि करने के लिए हम कितना कठोर परिश्रम करते हैं! अत: कहते हैं, जैसे कामनायुक्त व्यक्ति, जैसे आसक्तिवान पुरुष घोर कर्म करता दिखाई देता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अनासक्त है, वह भी लोक कल्याण के लिए उसी प्रकार घोर कर्म करता हुआ दिखाई दे। पर दोनों में अन्तर क्या है? वह आसक्त है और यह निरासक्त। कौन व्यक्ति? जिसके जीवन में ज्ञान प्रतिष्ठित हो गया। वह कर्म किस प्रकार से करे? असक्त: – अनासक्त होकर करे। आसक्ति को छोड़कर। यही चमत्कार है! जीवन का इससे बड़ा और कौन-सा चमत्कार हो सकता है कि मनुष्य घोर कर्म करता दिखाई देता है, पर कहीं आसक्ति नहीं। यही विलक्षणता है !

जगत का सृजन और नाश कैसे?

भूतों के आधार ईश्वर हैं

प्रभु यहाँ पर कह रहे हैं – पश्य मे योगमैश्वरम् -अर्जुन, तू मेरे योग का ऐश्वर्य देख। अगले श्लोक में कहते हैं :

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यथा (जैसे) सर्वत्रग: (सर्वगामी) महान् (महान) वायु: (वायु) नित्यम् (सदा) आकाशस्थित: (आकाश में स्थित है) तथा (उसी प्रकार) सर्वाणि (समस्त) भूतानि (प्राणियों को) मत्स्थानि (मुझमें स्थित) उपधारय (जान)।

''जैसे सर्वगामी महान वायु नित्य आकाश में स्थित है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को मुझमें स्थित जान।''

अब उसी को समझा देते हैं। जो प्रारम्भ में उन्होंने कहा, उसी को समझाते हुए कहते हैं – जैसे वायु सर्वत्र स्थित है, वायु के लिए महान कहा, क्योंकि वायु बहुत विस्तृत है। यह जो महान वायु है, सब जगह विचरण कर रही है। इसको कहते हैं, आकाश में स्थित है। ठीक इसी प्रकार विचरण करनेवाले जितने जीव हैं – तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि इति उपधारय - जैसे आकाश का आधार लेकर वायु विचरण करती है, उसी प्रकार मेरा आधार लेकर ये सर्वभूत विचरण करते हैं। भिन्न-भिन्न योनियों में से विचरण करते हैं, जाते रहते हैं। ये सारे के सारे भूत मुझमें स्थित हैं। दो बातें प्रभु ने कही – पहले तो कह दिया - मत्स्थानि सर्वभूतानि। फिर दूसरी बार कहा - न च मत्स्थानि भूतानि। फिर इसी को समझाते हैं। जब उन्होंने विरोधी बातें कह दी, अपनी एक बात को दूसरी बात से काट दिया, तब स्वाभाविक ही है कि अर्जुन को शंका हुई कि क्या कह रहे हैं? तब प्रभु बताते हैं कि किस प्रकार से भूत मेरे भीतर में हैं, जानते हो? जैसे वायु आकाश में स्थित है। वह आकाश का आधार लेकर विचरण करती रहती है। ठीक उसी प्रकार ये भूत भी हैं, जो मेरा आधार लेकर विचरण करते हैं, भिन्न-भिन्न गतियों या योनियों में जाते रहते हैं। इसके बाद कहते हैं :

जगत ईश्वर से प्रक्षिप्त है और उनमें ही समाहित हो जाता है –

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!) कल्पक्षये (कल्पों के अन्त में) सर्वभूतानि (सारे प्राणी) मामिकाम् प्रकृतिम् (मेरी प्रकृति में) यान्ति (लीन हो जाते हैं) कल्पादौ (और कल्पों के प्रारम्भ में) अहम् (मैं) तानि (उनको) पुन: (फिर से) विसृजामि (रचता हूँ)।

''हे अर्जुन! कल्पों के अन्त में सारे प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्पों के प्रारम्भ में मैं उनको फिर से रचता हूँ।''

यहाँ बता रहे हैं, अर्जुन, ये सारे भूत अन्त में मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। और दिखाई देने वाली ये जो प्रकृति है, अन्त में वह मुझमें लीन हो जाती है। कैसे लीन हो जाती है? कल्पक्षये - कल्प के क्षीण होने पर। कल्प का क्या अर्थ होता है? जैसा हमने हिसाब लगाया था। ब्रह्मा का एक दिन और ब्रह्मा की एक रात। उसी प्रकार ब्रह्मा के एक वर्ष की कल्पना कीजिए। ब्रह्मा का एक दिन जिस समय में वे जागते हैं। ब्रह्मा की एक रात जिस समय वे सोते हैं। इसे प्रलय कहते हैं। पर यह आंशिक प्रलय है। अल्पकालिक प्रलय है। परन्तु यह सौ वर्ष हो गये। उसके बाद ब्रह्मा का विनाश हो गया। उस पद में जो बैठे हैं, वे खत्म हो गये, उसको महाप्रलय कहते हैं। एक बार प्रलय की चर्चा सॉंतवें अध्याय में भी हुयी थी। पर वहाँ पर महाप्रलय की स्थिति नहीं बतायी थी। ब्रह्मा का एक दिन और फिर एक रात समाप्त हो गई, उसकी बात बतायी थी। पर यहाँ ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे हो गये, उसी को कल्प कहा गया। कल्पक्षय होने पर क्या होता है? कल्पक्षय होने पर ये सारे के सारे भूत मुझमें ही समा जाते हैं। सारे बीज जाकर उनमें तिरोहित हो गये। और क्या होगा? कहते हैं, सौ वर्ष बाद जब कल्प का प्रारम्भ होता है, तो इसी बीज को लेकर प्रभु फिर से सृजन करते हैं। यह चक्र चलता रहता है। माने इसके माध्यम से सृष्टि का तत्त्व हमारे समक्ष रखते हैं। अब इसमें कुछ वैज्ञानिक साम्य है।

यह cyclic creation, हम लोग creation नहीं कहते हैं, हम projection कहते हैं। Projection और creation में एक अन्तर है। Creation कहने से यह बोध होता है कि जैसे पहले कुछ नहीं था। उसमें से कुछ की सृष्टि हो गयी, कुछ प्रकट हो गया। Projection का मतलब ऐसा नहीं। Projection का मतलब पहले से ही है, वही अभिव्यक्त होता है project होता है। एक नये रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – We do not believe in creation, we believe in projection. ये दूसरे धर्म जो creation की बात कहते हैं, हम उस creation को स्वीकार नहीं करते हैं। जिसे सृष्टि कहा गया है, उसका अर्थ creation नहीं है। उसका अर्थ होता है projection, मानो पहले से ही तत्त्व है, वही तत्त्व एक नया रूप धारण करता दिखाई देता है। उसको हम सृष्टि कहते हैं। यहाँ पर यही कहा कि प्रकृति नष्ट नहीं हो गई। धीरे-धीरे सूक्ष्मता को प्राप्त हो गई। प्रभु कहते हैं कि ये सारी-की-सारी प्रकृति मुझमें लीन हो जाती है। फिर जब कल्प का प्रारम्भ होता है, तो फिर

से उत्पन्न हो जाती है। यहाँ पर विज्ञान के साथ कुछ साम्य की चर्चा की गई। इसमें प्रभु श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञापूर्वक अर्जुन से कहा है कि मैं तुझे ज्ञान-विज्ञान दोनों ही प्रदान करूँगा। उपनिषद की भाषा में ज्ञान है अपरा विद्या और विज्ञान है परा विद्या। बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी दो अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है – knowledge and wisdom, उन्होंने भिन्न सन्दर्भ में इन दो शब्दों का उपयोग किया। हम उन शब्दों का उपयोग यहाँ पर कर सकते हैं। ज्ञान का अर्थ हुआ - knowledge और विज्ञान – wisdom. वह ज्ञान जो हमारी अनुभूति में पूरी तरह उतर गया है, उसे हम विज्ञान कहते हैं। यहाँ प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि मैं अनुभवसंयुक्त ज्ञान तेरे समक्ष रखूँगा। तब क्या होगा? तू अशुभ से मुक्त हो जायेगा। प्रभु ने अर्जुन को निमित्त करके उस ज्ञान का उपदेश दिया। उन्होंने इसका फल बताते हुए कहा कि इस विद्या को जान लेने पर अर्थात् मेरे सच्चे स्वरूप को जान लेने पर मनुष्य सभी कर्मफलों का अतिक्रमण कर जाता है। ऐसा क्यों कहते हैं? क्योंकि अर्जुन को लगा कि भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, जो मुझे पा लेते हैं, वे पुण्यकर्मों के फलों का अतिक्रमण कर लेते हैं और उस परम धाम को पा लेते हैं। ये श्रीकृष्ण कौन हैं? यह जानने की इच्छा हुयी। यह राजविद्याराजगुह्य है – जिस विद्या के माध्यम से श्रीकृष्ण का स्वरूप हमारे समक्ष उद्घाटित होगा, उस विद्या को समस्त विद्याओं का राजा कहते हैं। उस विद्या को समस्त गोपनीयों का राजा कहते हैं। तब प्रभु बताते हैं कि कैसे उनका स्वरूप सारे संसार में व्याप्त है। कैसे ये सारे भूत उनके भीतर स्थित हैं, परन्तु वे उनके भीतर में स्थित नहीं हैं। ये भूत मेरे भीतर स्थित नहीं, इस मेरे योग का चमत्कार देख ले। योग का ऐश्वर्य देख ले। मैं संसार का सृजन, धारण, पोषण करता हूँ। पर फिर भी मैं कहीं पर भी लिप्त नहीं हूँ। ऐसा कहकर उदाहरण देकर अपनी बात को समझाते हैं। फिर कहते हैं कि जब कल्प का नाश होता है, ये सब सारी प्रकृति में लीन होकर मुझे प्राप्त हो जाते हैं और कल्प के प्रारम्भ में मैं उनकी फिर से सृष्टि करता हूँ। इसके बाद कहते हैं : **(क्रमशः)**

पृष्ठ २६७ का शेष भाग

अर्थ है, सभी को प्रेम करना और सबकी सेवा करना। यहाँ एक दूसरा प्रश्न आता है, हम दूसरों का भला क्यों करें? बाईबल (यहूदी और ईसाई) में दिव्य आदेश है, "अपने पड़ोसी को अपने समान प्रेम करो"। मैं अपने पड़ोसी को अपने समान क्यों प्रेम करूँ? स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, इसका उत्तर वेदान्त की इस अवधारणा द्वारा दिया गया है कि एक ही परमात्मा, ब्रह्मन् सभी जीवों में विद्यमान है। मुझे अपने पड़ोसी को अपने समान इसलिए प्रेम करना चाहिए, क्योंकि मुझमें और मेरे पड़ोसी में एक ही परमात्मा विद्यमान है। दूसरों की भलाई करने से मैं अपनी ही भलाई करता हूँ। उसी तरह, यदि कोई दूसरों की हानि करता है, वह स्वयं की ही हानि करता है। यह विचार स्वयं के परोपकार और परहितवाद के बीच, स्वार्थ और नि:स्वार्थ के बीच के संघर्ष का सामंजस्य करता है।

दोहरा आदर्श

ऊपर की गई चर्चा से हम यह पाते हैं कि नैतिकता और नीतिशास्त्र पर स्वामी विवेकानन्द के विचार आज्ञा, नियम और विधि पर आधारित नहीं हैं, बल्कि मनुष्य के वास्तविक स्वरूप और ब्रह्माण्ड पर आधारित हैं। इस वास्तविक स्वरूप की अनुभूति ही आध्यात्मिकता है और नैतिकता इस अनुभूति का अनिवार्य साधन है। यद्यपि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आत्मा है, अज्ञानता के कारण देह और मन के साथ तादात्म्य के कारण वह इसकी अनुभूति नहीं कर पाता है। आत्मा को इस तादात्म्य और अज्ञानता से मुक्त करना ही वास्तविक और परम स्वतन्त्रता है, जिसे मुक्ति या मोक्ष के नाम से जाना जाता है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में यह जीवन का परम लक्ष्य है। इसमें स्वामीजी ने एक नया आदर्श जोड़ दिया है : दूसरों की सेवा करना और उनमें ईश्वर देखना, 'शिव-भाव से जीव-सेवा।'

स्वामीजी ने इन दोनों आदर्शों को एक आदर्श-वाक्य में जोड़ दिया : 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।' यद्यपि यह रामकृष्ण मठ और मिशन का आदर्श-वाक्य है, किन्तु यह सम्पूर्ण विश्व के सभी प्रबुद्ध लोगों के लिए आदर्श-वाक्य हो सकता है, क्योंकि यह मानवता के सार्वजनीन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। ○○○

स्वकर्म से सिद्धिप्राप्ति

प्रो. बालकृष्ण कुमावत, उज्जैन

विश्व साहित्य में श्रीमद्भगवदगीता का अद्वितीय स्थान है। यह साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से नि:सृत परम रहस्यमयी दिव्य वाणी है। इसमें स्वयं भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये उपदेश दिया है। श्रीमद्भगवद्गीता में कुल ७०० श्लोक हैं, उनमें से ५७४ श्लोक स्वयं भगवान ने कहा है। यह छोटा-सा ग्रंथ भगवान के हृदय के विलक्षण भावों से परिपूर्ण है। इसका आज तक कोई पार नहीं पा सका और न पा ही सकता है। एक बार विश्वधर्म सम्मेलन का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया गया था, जिसमें भारत की ओर से भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने प्रतिनिधित्व किया था। आयोजकों ने उनसे निवेदन किया था कि वे अपने देश के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ को लाएँ तथा सम्मेलन में रखें। उन्होंने श्रीमद्भगवदगीता को ही रखा था।

भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से नि:सृत वाणी की खोज ब्रह्माण्ड में आज भी विज्ञान कर रहा है। उल्लेखनीय है कि गीता में वर्णित श्लोकों से भी अधिक विस्तृत उसका माहात्म्य पद्मपुराण में मिलता है। यह इस ग्रन्थ की महिमा का द्योतक है। किसी भी ग्रन्थ के आकार से बड़ा उसका महात्म्य होना अन्यत्र नहीं मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता जीवन-प्रबंधन का एक पूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में किसी मत का आग्रह नहीं है, प्रत्युत केवल जीव के कल्याण का ही आग्रह है। गीता में भगवान साधक को समग्र की ओर ले जाते हैं। किसी की भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएँ समग्ररूप के अन्तर्गत आ जाती हैं। सम्पूर्ण दर्शन समग्ररूप के अन्तर्गत आ जाते हैं। सभी दर्शन गीता के अन्तर्गत हैं, पर गीता किसी दर्शन के अन्तर्गत नहीं है। गीता समग्र को मानती है, इसीलिए गीता का आरम्भ और अन्त शरणागति में हुआ है। शरणागति से ही समग्र की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवत में भगवान कहते हैं कि ''स्वयं को मुझको अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्मा का पद, इन्द्र का पद, सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य, पातालादि लोकों का राज्य, योग की समस्त सिद्धियाँ और मोक्ष को भी नहीं चाहता।''

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।।[१]

गीता में कर्मयोग के वर्णन में ज्ञानयोग-भक्तियोग की, ज्ञानयोग के वर्णन में कर्मयोग-भक्तियोग की और भक्तियोग के वर्णन में कर्मयोग-ज्ञानयोग की बात भी आती है। इसका तात्पर्य यह है कि, साधक कोई भी योग करे, तो उसको तीनों योगों की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् मुक्ति और भक्ति, दोनों प्राप्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ भगवान की ही हैं। ज्ञानयोग परा को लेकर और कर्मयोग अपरा को लेकर चलता है। इसलिये किसी एक योग की पूर्णता होने पर तीनों योगों की पूर्णता हो जाती है। परन्तु इसमें शर्त यह है कि साधक अपने मत का आग्रह न रखे और दूसरे के मत का खण्डन या निन्दा न करे, दूसरे के मत को छोटा न माने। अपने मत का आग्रह रहने से और दूसरे के मत को छोटा मानकर उसका खण्डन या निन्दा करने से साधक को मुक्ति (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति तो हो सकती है, पर भक्ति (परमप्रेम) की प्राप्ति अर्थात् समग्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्रस्तुत आलेख में हम श्रीमद्धगवद्गीता में वर्णित इस बात की चर्चा करेंगे कि मनुष्य मात्र को सिद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्यमात्र को सिद्धि कैसे प्राप्त हो, इसका सरलतम उपाय गीता में बताया है, जो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इस श्लोक में कहा गया है कि जिस परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्मा का अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।[२]

जिस परमात्मा से संसार की सृष्टि हुई है, जिससे सम्पूर्ण संसार का संचालन होता है, जो सबका उत्पादक, आधार और प्रकाशक है और जो सबमें परिपूर्ण है अर्थात् जो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति के पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डों के लीन होने पर भी रहेगा और अनन्त

ब्रह्माण्डों के रहते हुए भी जो रहता है तथा जो अनन्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त है, उसी परमात्मा का अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा पूजन करना चाहिए। अर्थात् वर्णोचित स्वाभाविक कर्मों के द्वारा भगवान की पूजा सम्पन्न हो जाती है।

मनुस्मृति में वर्णोचित स्वाभाविक कर्मों का वर्णन है –

१. ब्राह्मणों के लिए छ: कर्म बताए गए हैं –

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।[३]

स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरों से यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरों को दान देना। यहाँ पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना, ये तीन कर्म जीविका के लिए हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना, ये तीन कर्तव्य कर्म हैं। इन शास्त्रसम्मत छह कर्म और शम-दम आदि नौ स्वाभाविक कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म है, उन कर्मों के द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णों में व्याप्त परमात्मा का पूजन करे। आशय यह है कि परमात्मा की आज्ञा से उनकी प्रसन्नता के लिए ही भगवद्बुद्धि से निष्काम भाव से सबकी सेवा करें।

२. क्षत्रियों के लिये पाँच कर्म बताए गए हैं –

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तश्च क्षत्रियस्य समासतः।।[४]

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयों में आसक्त न होना। इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सभी कर्मों द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्मा का पूजन करें।

३. वैश्यों के लिए ७ कर्मों का निर्देश मिलता है –

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिक्यपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।[५]

यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य एवं वाणिज्य, इन शास्त्र नियत और स्वभाव कर्मों के द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्मा की पूजा करना बताया गया है।

४. शूद्रों के लिये कर्मों का निर्देश किया गया है –

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया।।

शास्त्र विहित या स्वभावज कर्म सेवा के द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्मा का पूजन करने का निर्देश है अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभाव और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मों के द्वारा भगवान की आज्ञा से, भगवान की प्रसन्नता के लिये भगवद्बुद्धि से वे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।[६]

शास्त्रों में मनुष्य के लिये अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताए गये हैं, वे सब संसार रूपी परमात्मा की पूजा के लिये ही हैं। यदि साधक अपने कर्मों के द्वारा भावपूर्वक उस परमात्मा का पूजन करता है, तो उसकी क्रिया ही परमात्मा की पूजा हो जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लौकिक और पारमार्थिक कर्मों के द्वारा उस परमात्मा का पूजन करें, तो उन कर्मों में तथा उनको करने के कारणों-उपकरणों में साधक को ममता नहीं रखनी चाहिए। ममता होने पर सभी चीजें अपवित्र हो जाती हैं अर्थात् पूजा नहीं रह जातीं। इसलिए 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्मा का ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर उनकी दी हुई शक्ति से उनका पूजन करना है'', इस भाव से जो कुछ किया जाय, वह सब परमात्मा का पूजन हो जाता है।

इसके विपरीत उन क्रियाओं, वस्तुओं आदि को मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे (अपनी मानी हुई) क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होने से) परमात्मा के पूजन से वंचित हो जाती हैं। यह संसार भगवान् का पहला अवतार है **आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य।** (श्रीमद्भागवत २/६/४१)

अत: यह संसार भगवान की ही मूर्ति है, श्रीविग्रह है। जैसे मूर्ति में हम भगवान् का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं। चंदन लगाते हैं, तो हमारा भाव मूर्ति में न होकर भगवान में होता है अर्थात् हम मूर्ति की पूजा न करके भगवान की पूजा करते हैं। ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रिया से संसार रूप में भगवान् का पूजन करना है।

श्रोता सुनकर वक्ता का पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोता का पूजन करे – इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मों द्वारा एक-दूसरे का पूजन करें। दृष्टि भगवान् की ओर हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण की ओर नहीं। भगवान श्रीराम को ऋषि-मुनि प्रणाम करते हैं, तो भगवान के भाव से प्रणाम करते हैं, क्षत्रिय के भाव से नहीं। पूजन में खास बात यह है कि

सब कुछ भगवान का और भगवान के लिये ही है। जैसे गंगाजल से गंगा का पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान की वस्तुओं से भगवान का पूजन करना है।

वस्तुत: सारी क्रियाएँ भगवान् का ही पूजन हैं, हमें केवल अपनी भ्रान्ति मिटानी है। भगवान की वस्तु भगवान को अर्पित करने से अपनी स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि, फलेच्छा मिट जाएगी तथा स्वयं की सामर्थ्य भी भगवान का मानने से कर्तृत्व मिट जाएगा, तब भगवत्प्राप्ति हो जाएगी।

वास्तव में भगवद्भाव से संसार का पूजन मूर्तिपूजा से भी विशेष मूल्यवान है। क्योंकि मूर्ति का पूजन करने से मूर्ति प्रसन्न होती हुई नहीं दिखती, पर प्राणियों की सेवा करने से वे प्रत्यक्ष प्रसन्न (सुखी) होते हुए दीखते हैं। यदि व्यक्तियों को भगवान् का स्वरूप मानकर कर्मों से और पदार्थों से उनकी सेवा की जाय, तो संसार लुप्त हो जाएगा और एकमात्र भगवान रह जायेंगे। अर्थात् सब कुछ भगवान ही हैं, इसका अनुभव हो जाएगा। महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रत्येक मनुष्य को सोचना चाहिए कि मात्र कर्म अपने लिये करना बंधन है, संसार के लिये करना सेवा है, और भगवान के लिये करना पूजन है।

इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण महात्मा अर्जुन को आश्वासन देते हुए कहते हैं –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।[७]

"हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दो। इस प्रकार मुझे अर्पण करने से तू कर्मबन्धन और शुभ (विहित) तथा अशुभ (निषिद्ध) कर्मों के फलों से मुक्त हो जाएगा। ऐसे अपने सहित सब कुछ मेरे अर्पण करने वाला और सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जायेगा।" ○○○

सन्दर्भ : १. श्रीमदभागवत् ११/१४/१४, **२.** श्रीमद्भगवद्गीता १८/४६, **३.** मनुस्मृति १/८८, **४.** मनुस्मृति १/८९, **५.** मनुस्मृति १/९०, **६.** मनुस्मृति १/९१, **७.** श्रीमद्भगवद्गीता ९/२७-२८.

पृष्ठ २५९ का शेष भाग

देवाधिदेव को देखने में वे इतने विभोर हुए कि नमस्कार तक करना भूल गये। फिर भगवान महेश्वर ने एकाक्षरी मंत्र का उपदेश देकर समझाया कि इस मन्त्र-जप के द्वारा यथार्थ सद्गुरु उपलब्ध हो जाएँगे। गंगामाता की कृपा से ताराकिशोर को उमा-महेश्वर के दर्शन तो उसी क्षण प्राप्त हो गये और आगे चलकर गुरुदेव काठिया बाबा से दीक्षा मिली और वे स्वयं सन्तदास बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

६. एक संन्यासी पर कृपा

अस्सी वर्षीय महन्त उदासीन बाबा बिहार के हाजीपुर में महन्त थे। गंगा के निकटस्थ होने के कारण गंगा के दर्शन -पूजन का सौभाग्य उन्हें इच्छानुसार सुलभ था, लेकिन गंगा के उद्गम-स्थल गोमुखी के दर्शन की उनकी तीव्र लालसा थी। अचानक एक दिन सुयोग बना और वे गोमुख-दर्शन के लिए चल पड़े। वृद्ध शरीर महन्तजी के लिये यह यात्रा आसान नहीं थी, किन्तु गंगा-दर्शन के उत्साह में दुर्गम मार्ग से चलते हुए अन्ततः वे गन्तव्य तक पहुँच गये। सामने गोमुखी के स्वरूप को देखकर महन्तजी की सारी थकान मिट गयी। कुछ क्षण भगवती के उस अद्भुत रूप को निहारते रहे और आँखें बन्दकर, हाथ जोड़कर भावुकता के अतिरेक में प्रार्थना करते हुए बोले – 'हे माँ गंगे! आज आपके विलक्षण स्वरूप के दर्शन हुए। कदाचित् दुबारा जीवन में यह अवसर प्राप्त नहीं होगा। इसलिए माँ, अपना आशीर्वाद प्रदान करो।' आँखें खुलने पर उदासीन बाबा ने विविध आभूषणों से भरा हुआ आशीर्वादात्मक मुद्रा में एक हाथ देखा, जो कुछ पल बाद लुप्त हो गया, लेकिन बाबाजी के आनन्द की सीमा नहीं थी, क्योंकि माँ का दुर्लभ आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हो चुका था।

जिस तरह पवनपुत्र हनुमान अहर्निश श्रीरामभक्तों के हित-साधन में लगे रहते हैं, उसी तरह भगवती गंगा भी भगवद्भक्तों का योग-क्षेम वहन करती हुई निरन्तर प्रवाहशील हैं। ○○○

सारगाछी की स्मृतियाँ (९२)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

कुछ दिनों बाद महासचिव प्रभु महाराज (वीरेश्वरानन्द महाराज) आकर उपस्थित हो गए। महाराज के पास सटकर कुर्सी पर बैठे हुए हैं। आपस की बातों को समझाने के लिये सेवक को वहाँ रहना पड़ा।

स्वामी प्रेमेशानन्द

प्रभु महाराज – अस्पताल से छूटने के बाद कहाँ रहना चाहते हैं? यदि आप चाहें, तो हम लोग आपके रहने की व्यवस्था बेलूड़ मठ में कर देंगे। यदि आप सारगाछी वापस जाने की कहें, तो वैसा ही होगा और यदि इच्छा हो, तो काशी में सेवाश्रम है, विश्वनाथ जी हैं, वहाँ भी व्यवस्था हो सकती है।

प्रेमेश महाराज – मुझे स्वर्गाश्रम (जहाँ साधु लोग भिक्षा करके खाते हैं) में भेज दीजिए, वहाँ पंजाबी अन्न-क्षेत्र की रोटी और दाल खाते ही मैं स्वस्थ हो जाऊँगा और साधन-भजन लेकर रहूँगा।

चलने में असमर्थ, दृष्टिहीन, बोलने में असमर्थ, जीर्ण-शीर्ण महाराज की मानसिक शक्ति देखकर स्तब्ध हुए प्रभु महाराज ने मानो शिशु को निश्चिन्त करते हुए कहा, ''महाराज आपको कुछ चिन्ता नहीं करनी होगी, हमलोग ही आपको स्वस्थ करेंगे।''

महाराज – तो ठीक है।

यूरिक एसिड, डायबिटीज, ब्लड प्रेशर आदि के कारण महाराज अधिकांश समय मौन ही रहते थे। उन्हें स्थान, काल, परिवेश का बोध नहीं रहता था। वे परिचित लोगों को भी ठीक से नहीं पहचान पाते थे। किन्तु सेवक ने जब भी उनसे कोई आध्यात्मिक प्रश्न किया है, तो उन्होंने उसका सुन्दर उत्तर दिया है। गीता, उपनिषद्, भागवत के श्लोक, रवीन्द्रनाथ की कविता का सुन्दर ढंग से उद्धरण देकर किसी विषय को समझा देते थे। एक दिन कौतूहलवश सेवक ने महाराज से पूछा, ''महाराज, किसी घटना, विषय, परिवेश, इन सब बातों में आपके द्वारा बीच-बीच में कुछ भूल हो जाती है, किन्तु आध्यात्मिक विषयों में तो कोई त्रुटि नहीं देखता हूँ! इसका क्या कारण है?''

महाराज – ध्यान से सुनो, मन-बुद्धि के क्षेत्र में ही गड़बड़ी होती है। जो तत्त्व बुद्धि-क्षेत्र के बाहर है, वहाँ कोई गड़बड़ी या त्रुटि नहीं होती।

२५.११.१९६२

महाराज – संन्यासी और गृहस्थ कभी भी एक साथ नहीं रह सकते। दोनों बिल्कुल ही अलग-अलग हैं। उनके लिये यह संसार ग्राह्य है, हमें इसका त्याग करना होगा। संन्यास के साथ मन्दिर-मस्जिद का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु हमारे न्यासी-संचालकों ने जो बेलूड़ मठ बनाया है, उसका एक दूसरा उद्देश्य है। जनसाधारण मन्दिर में पूजा, उपासना करेंगे। इसके अतिरिक्त जो नए ब्रह्मचारी आएँगे, यह उनके लिये है। जनता यहाँ आकर पूजा-उपासना करेगी।

गृहस्थ लोग हमसे पूछते हैं – 'कैसे हैं?' मैं भी कहता हूँ – 'ठीक हूँ।' इसमें कुछ भी परिहास की बात नहीं है। उनकी हँसी उड़ाने के लिए भी ऐसा नहीं कहता हूँ। क्योंकि मैं जैसा हूँ, वैसा ही तो हूँ। यह शरीर रहने से भी क्या और जाने से भी क्या! यह सब गुप्त बातें हैं। किसी से नहीं कही जाती हैं। भाव नहीं समझने से अमंगल होता है। यहाँ तक कि चरम संन्यास-भावापन्न व्यक्ति से भी ये सब बातें नहीं कहनी चाहिए।

X X X X X

कोलकाता के मेडिकल कॉलेज में लगभग डेढ़ मास रहने के बाद २८ नवम्बर, १९६२ को महाराज ने अमृतसर

शेष भाग पृष्ठ २८५ पर

ज्ञान-प्राप्ति की सात भूमिकाएँ : योगवासिष्ठ के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. के. डी. शर्मा

सेवानिवृत्त प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बीकानेर

शास्त्रों के अनुसार चेतन से अभिभूत हुआ चित्त चेतनामय हो जाता है, जिससे चित्त में अहं भाव का स्फुरण हो जाता है और अहं का चित्त से तादात्म्य हो जाता है। इस अवस्था में 'मैं हूँ' की अनुभूति होती है और यह सीमित 'मैं' परिपुष्ट हो जाता है। इस 'मैं' के साथ ही 'मेरा' का जन्म होता है, जिससे यह चित्तगत चेतन (जीवात्मा) संसार की ओर उन्मुख होता है और 'ममत्व' में आसक्त हो जाता है तथा संसार के भोगों में स्वयं को पूर्णरूपेण खो देता है। इस स्थिति में जीव का शरीर में ममत्व हो जाता है। जीव शरीर की तृप्ति के लिये बाह्य विषयों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और उनके मिल जाने पर भोगों में पूर्णरूपेण निमग्न हो जाता है तथा उसे निज स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। भर्तृहरि के शब्दों में **'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'** अर्थात् हम भोगों को नहीं भोग रहे हैं, अपितु हम ही भोगों द्वारा भोगे जा रहे हैं। इस अविद्याजन्य स्थिति में अनेक जन्म बीत जाते हैं और आगे भी पता नहीं, कितने जन्म बीत जायेंगे। शास्त्र और सत्पुरुषों का कथन है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न से भी जब जीव को इस जगत-प्रवाह में कहीं सुख, शान्ति नहीं मिलती और वह पूर्णतया निराश हो जाता है, तब उसे जगत तथा उसका कारण एवं निजस्वरूप को जानने की इच्छा होती है, जिसकी अनुभूति ज्ञान से ही हो सकती है।

ज्ञान-प्राप्ति की सात आधारभूत भूमिकाएँ हैं –

१. शुभेच्छा २. विचारणा ३. तनुमानसा ४. सत्त्वापत्ति ५. असंसक्ति ६. पदार्थभावना ७. तुर्यगा

१. शुभेच्छा – महर्षि वसिष्ठकृत ग्रंथ योगवासिष्ठ में है –

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः।।

अर्थात् 'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर तत्त्व का साक्षात्कार करूँगा। इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानीजन 'शुभेच्छा' कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने सात्त्विक श्रद्धा को 'शुभेच्छा' कहा है –

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरि कृपा हृदय बस आई।।

जब तक साधक संसार के भोगों तथा अपने सम्बन्धियों से पूर्णरूपेण विरक्त नहीं हो जाता, तब तक इस संसार-प्रवाह के अज्ञान-अंधकार से विमुक्त होने की इच्छा का जन्म ही नहीं होता। जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्त होने की प्रबलतम चाह ही ज्ञान की प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' है। 'शुभेच्छा' प्राप्त साधक समस्त अशुभ इच्छाओं आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मों का मन, वाणी और शरीर से त्याग कर देता है तथा यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्मों और सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को अनासक्ति व कर्मफलरहित होकर करता है। वह वेदों के महावाक्यों **– प्रज्ञानं ब्रह्म** – ब्रह्म विज्ञानघन है (ऐतरेय उपनिषद, १/३), **अहं ब्रह्मास्मि** – मैं ब्रह्म हूँ (बृहदा.उप. १/४/१०), **तत्त्वमसि** – वह सच्चिदानन्द ब्रह्म तू ही है (छांदोग्य उप. ६/१२/३) और **अयमात्मा ब्रह्म** – यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है (माण्डूक्य उप. मन्त्र २), इनका अध्ययन करता है और सत्पुरुषों का संग करके उनसे इन महावाक्यों की व्याख्या-श्रवण करता है तथा परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा करता है।

२. विचारणा – महर्षि वसिष्ठकृत योगवासिष्ठ के अनुसार –

शास्त्र-सज्जन-सम्पर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा।।

अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन,मनन, सत्पुरुषों का संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यास से सदाचार में प्रवृत्त विचारणा नामक ज्ञान की द्वितीय भूमिका है। यानी दैवी सम्पदारूप (गीता १६/१,२,३) सद्गुण-सदाचार के सेवन से उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही विचारणा है। सत्-असत् और नित्य-अनित्य का विवेचन ही विवेक है। अर्थात् विवेक इनको भलीभाँति पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओं में और प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण आत्मा और अनात्मा का विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है, जिसका कभी नाश न हो, वह सत् है और जिसका नाश होता है, वह असत् है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है -

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।(गीता २/१६)

अर्थात् असत् वस्तु की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी महापुरुषों ने अनुभव किया है। अत: जड़ पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण असत् हैं और परमात्मा ही सत् है। अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही है, माया की उपाधि के सम्बन्ध से उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाश के होते हुए भी घड़े की उपाधि के सम्बन्ध से घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं। वस्तुत: घटाकाश और महाकाश एक ही है, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा वास्तव में एक ही है, इस तत्त्व को समझ लेना विवेक है। विवेक से सत् (नित्य) और असत् (अनित्य) का भेद समझ में आने से साधक को लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में कामना और आसक्ति नहीं रहती।

३. तनुमानसा - योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी कहते हैं –

विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा।।

अर्थात् उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इंद्रियों के विषयभोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करना, तनुमानसा नामक ज्ञान की तृतीय भूमिका है। तनु का अर्थ है सूक्ष्म। इस भूमिका में मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है, अत: इसे तनुमानसा कहते हैं। इस स्थिति में कामना, आसक्ति और ममता के अभाव में, सत्पुरुषों के संग के अभ्यास से और विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन (ध्यान करते-करते परमात्मा में तन्मय हो जाना) से साधक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और ब्रह्म में एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मत्व को ग्रहण करने की योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। साधक के अन्त:करण में सम्पूर्ण अवगुणों का अभाव होकर स्वाभाविक ही यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), अनसूया (दोषदृष्टिरहति), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति और समता आदि सद्गुणों का आविर्भाव हो जाता है। तनु का अर्थ क्षीण तथा निर्बल भी होता है। अत: जिस समय विचारों के द्वारा अन्त:करण की वासनात्मक वृत्ति क्षीण होकर निर्बल हो जाती है, साधक की यह अवस्था तनुमानसा है। वासना के क्षय होने पर रजोगुण और तमोगुण भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं तथा सतोगुण की अभिवृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक शरीर, इन्द्रिय और मन से भी ऊपर उठ जाता है।

४. सत्त्वापत्ति – महर्षि वसिष्ठ जी योगवासिष्ठ में सत्त्वापत्ति की परिभाषा देते हुए कहते हैं –

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता।।

अर्थात् पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से साधक का चित्त सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाता है। चूँकि तनुमानसा भूमिका को प्राप्त साधक के मन का साम्राज्य ढह जाता है और वह बुद्धि में स्थित हो जाता है, अत: यह ज्ञान की चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति है। बुद्धिस्थ हुआ साधक ही कार्य जगत के यथार्थ स्वरूप को जान पाता है और फिर उसके कारण को जानने और समझने में सक्षम हो जाता है।

भगवद्गीता (७/४,५) के अनुसार इस जगत-प्रवाह का कारण परमात्मा की अष्टधा अपरा प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) में बुद्धि का श्रेष्ठ स्थान है और यही अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्ति है। बुद्धि में स्फुरित होनेवाला अहं चैतन्य परमात्मा का ही अंश है। अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर की अभिव्यक्ति है। सीमित बुद्धि में आविर्भूत होने से उसे जीव कहते हैं और अनन्त की अभिव्यक्ति होने से उसे आत्मा कहते हैं।

५. असंसक्ति – वसिष्ठ असंसक्ति के बारे में लिखते हैं –

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसंगफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका।।

अर्थात् पूर्वोक्त चारों भूमिकाओं के अभ्यास से साधक का चित्त बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारों से रहित होकर बुद्धि और उसके कार्यों से पूर्णतया असंग हो जाता है। यह असंसक्ति नामक ज्ञान की पंचम भूमिका है। इस अवस्था में परम वैराग्य और परम उपरति के कारण साधक का इस संसार और शरीर से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अत: ज्ञान की इस पंचम भूमिका को असंसक्ति या असंसर्ग अवस्था कहते हैं।

भगवद्गीता (३/१८) के अनुसार 'इस अवस्था को प्राप्त साधक का इस विश्व में न तो कोई कर्म करने का

प्रयोजन रहता है और न ही, न करने का कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी उसका किंचित् मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता'। फिर भी इस ज्ञानी महात्मा के सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामनारहित तथा संकल्पशून्य होते हैं। भगवद्गीता (४/१९) के अनुसार ' जिस महापुरुष के समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं। अत: इस असंसक्ति नामक ज्ञान की पंचम भूमिका को प्राप्त साधक पंडित है। जड़भरत इस पंचम भूमिका में स्थित थे।

६. पदार्थाभावना – योगवासिष्ठ इसे परिभाषित करता है – **भूमिकापंचकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढ़म्।**

आभ्यंतराणां बाह्यानां पदार्थनामभावनात्।।

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।

पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः।।

अर्थात् पूर्वोक्त पाँचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर ज्ञानी महात्मा के अन्त:करण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। यानी उसे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं में भान नहीं होता। यह पदार्थाभावना नामक षष्ठ भूमिका है। इस भूमिका को प्राप्त ज्ञानी महात्मा को अविद्या के स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है तथा उसकी मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५/१७)। यह गुणातीत अवस्था है। अर्थात् वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों से अतीत (रहित) हो जाता है। भगवद्गीता (१४/२२-२७) में गुणातीत महात्मा के लक्षणों का वर्णन किया गया है। श्रीऋषभदेव जी इस षष्ठ भूमिका पदार्थाभावना में स्थित थे।

७. तुर्यगा – महर्षि वसिष्ठ ग्रन्थ योगवासिष्ठ में तुर्यगा के सम्बन्ध में कहते हैं –

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।

यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः।।

अर्थात् पूर्वोक्त छहों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में ज्ञानी महात्मा के हृदय में भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति का अभाव हो जाता है तथा उसकी अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा हो जाती है, उस अवस्था को ज्ञान की सातवीं भूमिका तुर्यगा या तुरीया कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त ज्ञानी महात्मा अनन्त चैतन्यघन से स्वयं की एकता का अनुभव करता है तथा वह ज्ञानी महात्मा यह उद्घोष करता है '**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**' – जो वह पुरुष है, वही मैं हूँ। (ईश.मन्त्र-१६)। यह तुर्य अवस्था जीवन्मुक्त महात्मा की होती है। देहान्त होने पर वह साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही हो जाता है। श्रीहनुमानजी, मूक चांडाल, धर्मव्याध, गुह और शबरी इस सप्तम भूमिका में स्थित थे।

उपर्युक्त वर्णित ज्ञान की सात भूमिकाओं में प्रथम चार भूमिकाओं – शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा और सत्त्वापत्ति को प्राप्त करने के लिए सबसे सरल उपाय है – इस शरीर और वस्तुओं के द्वारा दूसरों का हित किया जाये तथा सदैव दूसरों के हित का चिन्तन किया जाये, जिससे मन-बुद्धि की शुद्धि होती है। इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण (गीता १२/४) में कहते हैं – **ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः** – जो साधक सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। वे आगे भी कहते हैं –

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (५/२५)

– जिनके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं, मन-बुद्धि और इंद्रियाँ वश में हों, सब संशय मिट गये हैं तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं, वे योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं। रामचरितमानस में भी कहा गया है –

परहित बस जिन्ह के मन मांही।

तिन्ह कहुं जग कछु दुर्लभ नाहीं।। अरण्य ३१/९

हमारा निज स्वरूप अविनाशी एवं चेतन है और शरीर विनाशी एवं जड़ है। जड़ और चेतन का संयोग कभी हो ही नहीं सकता, परन्तु हम शरीर के साथ मिलकर एक हो जाते हैं। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।(१५/७)

अर्थात् इस संसार में जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है, परन्तु वह प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इंद्रियों को आकर्षित करता है यानी अपना मान लेता है। इस अज्ञान अवस्था में जड़ और चेतन का माना हुआ संयोग चिज्जड़ ग्रन्थि कहलाती है। पंचम (असंसक्ति) तथा षष्ठ (पदार्थाभावना) भूमिकाएँ प्राप्त ज्ञानी महात्मा की इस चिज्जड़ ग्रन्थि का विच्छेद हो जाता है। अर्थात् चेतन ने जड़ चित्त के साथ जो आत्मभाव बना लिया, वह समाप्त हो जाता है, यानी अज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है। इस अवस्था को तुर्यगा भूमिका कहते हैं। इस भूमिका को प्राप्त ज्ञानी महात्मा परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ○○○

मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (३०)

स्वामी अखण्डानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। परिव्राजक के रूप में उन्होंने हिमालय इत्यादि भारत के कई क्षेत्रों के अलावा तत्कालीन दुर्लंघ्य माने जाने वाले तिब्बत की यात्राएँ भी की थीं। उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अन्य संस्मरण बंगला पुस्तक 'स्मृति कथा' में प्रकाशित हुए हैं, जिनका अनुवाद विवेक ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

जस्टिस आशुतोष मुखोपाध्याय

सम्भवत: १९१५ ई. में सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी के बाद आशुबाबू ने दूसरी बार विश्वविद्यालय के कुलपति का महत्त्वपूर्ण कार्यभार सँभाला। इसके कुछ दिनों बाद ही उन्होंने अपने मित्र भवानीपुर के श्रीयुत हीरालाल वन्द्योपाध्याय के मुख से, उनके साथ हुई मेरी पहले की बातचीत के बारे में सुनकर, मुझे बुलावा भेजा। जब मैं हीरालाल बाबू के साथ उनके रसा रोड स्थित मकान पर पहुँचा, तब तक वे प्रात:भ्रमण से लौटे नहीं थे। तिमंजले पर स्थित उनके बैठकखाने में जाते ही उनके दोनों पुत्रों – रमाप्रसाद और श्यामाप्रसाद ने हीरालाल बाबू के मुख से मेरा परिचय सुनने के बाद सिर टेककर मुझे प्रणाम किया। दोनों हृष्ट-पुष्ट विनम्र बालकों को देखकर मुझे अतिशय आनन्द हुआ।

थोड़ी देर बैठने के बाद, भीतर से खाली शरीर और गले में खूब शुभ्र जनेऊ धारण किये हुए आशुबाबू ने आकर पूछा "क्या समाचार है?" और अपने निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये। करीब १९-२० वर्ष पूर्व, एशियाटिक सोसायटी के ग्रन्थालय में, मेरी उनके साथ जो थोड़ी-सी ही बातचीत हुई थी, मैंने उसी का प्रसंग उठाया। तब उन्होंने कहा था, "अगले सौ साल में भी इस देश की कोई उन्नति नहीं हो सकती।" उनकी प्रशंसा करते हुए मैं बोला, "महाशय, कुलपति के पद पर अधिष्ठित होने के बाद आपने स्नाकोत्तर महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में बँगला भाषा को स्वीकृत करके स्वदेश के शिक्षा-विभाग की जो उन्नति आरम्भ की है, उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।" मेरे मुख से ये बातें सुनकर आशुबाबू खूब हँसने लगे।

इसके बाद वे हाईकोर्ट के एक मामले के कागजात लेकर बैठे। मुझसे बोले, "देखिये, अपने घर में बैठकर भी छुट्टी नहीं है।" उस दिन ज्यादा बातें नहीं हो सकी। आशुबाबू ने पुन: आने को कहा।

दूसरी बार, उनके एक सहपाठी बहरमपुर के वकील श्रीयुत काली कृष्ण वन्द्योपाध्याय का एक पत्र लेकर मैं उनके पास गया था। वे तब भी मैदान से टहलकर लौटे नहीं थे। उनके आने में विलम्ब होते देख, मैं उनके नीचे के बैठकखाने की आलमारियों में रखी हुई पुस्तकों को देखने लगा। उनमें चार्ल्स डिकेंस के ग्रन्थों के विभिन्न आकारों वाले तीन-चार संस्करण थे और अन्य भी अनेक प्रकार की पुस्तकों से आलमारियाँ भरी हुई थीं। नीचे का पुस्तकालय देखने के बाद मैं थोड़ी देर वहीं बैठा रहा। तभी आशुबाबू लौटे। उन्होंने एक झिलमिलाता हुआ चाइना कोट पहन रखा था और हाथ में एक साधारण छड़ी थी। मुझे देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। वे बोले, "क्या समाचार है?" मैंने कालीकृष्ण बाबू का पत्र उनके हाथों में दिया। उन्होंने खड़े-खड़े ही उसे पढ़ डाला और तिमंजले पर आने को कहा। ऊपर जाते हुए मैंने देखा – सीढ़ी के दोनों तरफ कई स्तरों में असंख्य पुस्तकें रखी हुई हैं। हर मेज पर पुस्तकों की ढेर लगी हुई है। तिमंजिले के कमरे में जाकर बैठते ही अन्दर से आशुबाबू आ गये।

वार्तालाप के दौरान मैंने कहा कि पटना के सुविख्यात 'खुदाबक्स ग्रन्थालय' के समान ही यदि वे भी एक सार्वजनिक ग्रन्थालय बना दें, तो वह बंगाल में उनके लिये गौरव-स्वरूप होगा। सुनकर उन्होंने हँसते हुए कहा, "महाशय, बच्चे उसे बेच खाएँगे।"

इसके बाद मैं बोला कि विश्वविद्यालय में, बँगला भाषा के समान ही यदि वे वैदिक शिक्षा भी आरम्भ कर दें, तो वेदों से अपरिचित बंगाल का बड़ा ही उपकार होगा और उनका नाम भी चिर-स्मरणीय हो जाएगा। यह सुनकर उन्होंने बड़े भावपूर्ण स्वर में कहा, "आपने मेरे मन की बात ही खींचकर बाहर निकाल दी है। क्या कहूँ, दु:ख की बात यह है कि भारतवर्ष में वेदज्ञ पण्डित मिलते ही नहीं। मैंने मद्रास तथा

मुम्बई प्रान्तों में स्थित हाईकोर्ट के प्रसिद्ध न्यायाधीशों को पत्र लिखकर जानकारी माँगी ; वहाँ भी सच्चे वेदज्ञ पण्डितों का नितान्त अभाव है। बाद में मैंने पंजाब से, आर्यसमाज के ७५ वर्षीय पण्डित भीमसेन को ढाई सौ रुपये मासिक वेतन देकर यहाँ बुलवाया और कुछ स्नाकोत्तर छात्रों को वैदिक शिक्षा प्रदान करने का उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिया है। उनके साथ मेरी यह बात भी हुई है कि वे खण्डन न करके, केवल मण्डन किया करेंगे। अर्थात् सायण, महीधर आदि प्राचीन भाष्यकारों की व्याख्या का समर्थन करेंगे। इस विषय के लिये सरकार की ओर से केवल १५ हजार रुपये मंजूर हुए हैं। इनके खर्च हो जाने के बाद, अन्यत्र कहीं से कुछ भी पाने की आशा नहीं है।'' मैंने रासबिहारी घोष का प्रसंग उठाया, तो आशुबाबू बोले, ''उनकी वैदिक शिक्षा में कोई श्रद्धा नहीं है। वे केवल विज्ञान-शिक्षा के ही पृष्ठपोषक हैं; अत: उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती।''

यह सुनकर मैं बड़ा क्षुब्ध हुआ और बोला, ''तो क्या देश में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसकी पृष्ठपोषकता में वैदिक शिक्षा की एक स्थाई व्यवस्था हो सके?'' वे बोले, ''काशिमबाजार के महाराजा मणीन्द्रचन्द्र नन्दी ही देश की एकमात्र आशा हैं। (परन्तु) लोग उन्हें चारों ओर से घेरकर उनका शोषण कर रहे हैं; (अत:) उनसे और कुछ नहीं कहा जा सकता। मेरी इच्छा थी कि कुछ छात्र वैदिक शिक्षा पाकर बंगाल में उसका प्रसार करें, परन्तु उसकी कोई आशा नहीं दिखती।'' बहुवल्लभ शास्त्री का प्रसंग उठाने पर वे बोले, ''मैं उन्हें विश्वविद्यालय में ले आया हूँ।''

दिक्पाल-सदृश सुधी आशुबाबू की बंगाल में वैदिक शिक्षा के प्रसार की हार्दिक इच्छा को जानकर, स्वाभाविक रूप से ही मेरी उनके प्रति श्रद्धा बढ़ गयी। मगर काफी प्रयासों के बावजूद, उन्हें भी कोई वेदज्ञ पण्डित नहीं मिल सका है, यह जानकर मेरा चित्त क्षोभ तथा दु:ख से आच्छन्न हो उठा।

एक अन्य दिन उनके बैठकखाने में मेरी डॉ. अब्दुल्ला सुहरावर्दी के साथ बातें हुईं। इसके बाद हम दोनों एक साथ ट्राम में सवार होकर धर्मतला तक गये। आते समय डॉ. सुहरावर्दी ने कहा, ''आप लोगों के ठाकुर का आगमन हुआ था और स्वामी विवेकानन्द अपने उदार सर्वधर्म-समन्वय-भाव का प्रचार कर गये हैं, इसीलिये मुसलमान होकर भी आज मेरे मन से मस्जिद और मन्दिर के बीच की भेदबुद्धि लुप्त हो गयी है। मुसलमान लोग मस्जिद में नमाज पढ़कर जिस भगवान से प्रार्थना करते हैं, हिन्दू लोग भी मन्दिर में उन्हीं परमात्मा की उपासना करते हैं।'' डॉ. सुहरावर्दी के मुख से इसी तरह की और भी अनेक बातें सुनकर मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा का उदय हुआ। उसके बाद एक दिन मैं उनके कपालीटोला वाले मकान पर जाकर, उनके मुख से 'दीवान-ए-हाफिज' के कुछ गजल सुन आया था। **(क्रमश:)**

पृष्ठ २८० का शेष भाग

मेल से वाराणसी के लिए प्रस्थान किया। मेडिकल कॉलेज से जब वे बाहर निकल रहे थे, तब एक अद्‌भुत दृश्य था! दोनों ओर लोग, नर्स, कर्मचारी, कई डॉक्टर, साधु और भक्त आए हुए हैं। कोई-कोई महाराज के वाहन को भी स्पर्श करने हेतु व्यग्र हैं। जो भी हो, एम्बुलेस द्वारा महाराज को हावड़ा रेलवे स्टेशन पर लाया गया। वहाँ साधु-ब्रह्मचारियों की भीड़ थी। कई लोगों के मन में ऐसा लग रहा था कि यह अन्तिम विदाई है। रेलवे के कर्मचारियों ने भी इस सेवायज्ञ में पर्याप्त योगदान दिया था।

अगले दिन महाराज काशी सेवाश्रम पहुँच गए। उस समय काशी में दोनों आश्रमों में कुल मिलाकर लगभग तीस साधु थे, जो या तो श्रीमाँ के या राजा महाराज के शिष्य थे। महाराज के शरीर की हालत देखकर सभी लोग बहुत दुखित हुए।

२५-५-१९६३

महाराज – एक भगवान हैं, जो बलपूर्वक हमारी आँखों में पट्टी बाँधकर इस जगत में भेजकर, आनन्द ले रहे हैं। असली बात है कि वे ही सब हुए हैं। वे ही कष्ट पा रहे हैं। यह बात समझना बड़ा कठिन है। मैंने अपने हाथ की एक अंगुली को बर्फ में डुबाकर रखा। इससे मेरी अंगुली में बहुत कष्ट हो रहा है। इससे दोनों ही कष्ट पा रहे हैं। उंगली सोच रही है कि ठंड से कष्ट पा रही हूँ, मैं भी सोचता हूँ कि ठंड से कष्ट पा रहा हूँ – **क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**। किन्तु हम लोग द्वैत भावभूमि पर हैं, इसलिए सब कुछ 'माँ की इच्छा' सोचते हैं। **अव्यक्तं हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते।** एक व्यक्ति फूल-चन्दन, गंगाजी, विश्वनाथजी को लेकर है, बहुत अच्छा है। मैं भी पहले ऐसा था। किन्तु जब तक द्वैतभूमि पर रहूँ, तब तक प्रार्थना करना ही अच्छा है। असली बात तो चित्त शुद्ध होना है। चित्त शुद्ध होने से सत्य स्वयं ही प्रकट होगा। **(क्रमश:)**

स्वामी भूतेशानन्द

स्वामी चेतनानन्द

(स्वामी चेतनानन्द जी महाराज से रामकृष्ण संघ के भक्त भलीभाँति परिचित हैं। वर्तमान में महाराज वेदान्त सोसायटी, सेंट लुइस के मिनिस्टर-इन-चार्ज हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त पर अनेक पुस्तकें लिखी और अनुवाद की हैं। प्रस्तुत पुस्तक में रामकृष्ण संघ के महान त्यागी संन्यासियों के संस्मरण हैं, जिनके सम्पर्क में लेखक स्वयं आए थे। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु मूल बंगला से इसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से दिया जा रहा है। – सं.)

स्वामी भूतेशानन्द (१९०१-१९९८)

मनुष्य मननशील होता है। केवल मनुष्य ही मनन-चिन्तन कर सकता है। मनुष्य के मन में अनवरत तरंग एवं वृत्ति के रूप में असंख्य विचार उठ रहे हैं, तत्पश्चात् संस्कार अंकित करके विलीन हो जाते हैं। ये वृत्तियाँ चित्त में स्मृति के रूप में रह जाती हैं। मनुष्य के जीवन में स्मृति अतुलनीय है। मनुष्य के हाथ-पैर टूटने पर उसे जोड़ दिया जाता है, आँख-कान खराब होने के बावजूद भी मनुष्य जीवित रहता है, लेकिन स्मृति-लोप होने पर मनुष्य का जीवन मरणासन्न हो जाता है। वर्तमान तथा भविष्य की स्मृति नहीं होती, केवल भूतकाल की ही स्मृति होती है। फिर इन स्मृतियों में भी तारतम्य होता है, अर्थात् कोई स्मृति हलकी और कोई गहरी होती है। हमारे जीवन में जो अप्रयोजनीय होते हैं, उनकी स्मृति शीघ्र म्लान हो जाती है, किन्तु जो हमारे प्राणों से प्रिय होते हैं, उनकी स्मृति हमारे मानस-पटल पर सदैव उज्ज्वल भाव से विद्यमान रहती है। बीस वर्ष पूर्व स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज समाधिलीन हुए हैं, किन्तु अभी भी उनकी स्मृति अनेक लोगों के मन में जीवन्त रूप से विद्यमान है।

स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज

पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज के साथ मेरा साहचर्य १९६० से १९९८ ई. तक था। इन सुदीर्घ ३८ वर्षों तक उनके साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था, यद्यपि सदा उनके पास रहने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। उनके पुण्य-जीवन तथा उपदेश ने मेरे व्यक्तिगत जीवन को बहुत प्रेरित किया है। उन सब वार्तालापों में से मैंने कुछ-कुछ को डायरी में लिखकर रख लिया था। उनके अनेक पत्र मेरे पास हैं। उनके साथ मेरा कुछ वार्तालाप भी टेप-रिकॉर्डर में रिकॉर्ड करके रखा हुआ है। जो भी हो, इन दीर्घकाल की सभी घटनाएँ तो मुझे स्मरण नहीं हैं, किन्तु इन सबमें से प्रासंगिक घटनाओं को लिखने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ।

१४ जून, १९६० को कोलकता के अद्वैत आश्रम में महाराज का मैंने प्रथम बार दर्शन किया था। महाराज राजकोट से आये हुये थे। उस समय मैं ब्रह्मचारी था। उन दिनों अद्वैत आश्रम ४, वेलिंग्टन लेन में था। प्रतिदिन रात्रि-प्रसाद के उपरान्त कक्षा होती थी। पूजनीय स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज उस समय अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष थे। प्रत्येक दिन कक्षा के पश्चात् भूतेशानन्द जी महाराज ठाकुर के पार्षदों के विषय में बताया करते थे। महाराज बहुत ही मार्मिक भाषा में उनलोगों के त्याग, वैराग्य एवं अन्य छोटी-मोटी घटनाओं को बताया करते थे। मैं उन घटनाओं को संक्षेप में अपनी डायरी में लिख कर रख लेता था। प्राय: ४० वर्ष पूर्व उन संक्षिप्त लेखों में से कुछ का उल्लेख कर रहा हूँ।

१४ जून, १९६० अद्वैत आश्रम, कोलकाता

स्वामी तुरीयानन्द जी महाराज (हरि महाराज) के सम्बन्ध में भूतेशानन्द महाराज ने कहा, ''वे तपस्या पर बहुत बल देते थे। उन्हें देखने से मन में blazing fire – प्रज्वलित अग्नि जैसा प्रतीत होता! वे शरीर सीधा करके, छाती तानकर जब देखते, तब लगता कि उनके सामने यह विश्व-ब्रह्माण्ड कुछ भी नहीं है। उपेक्षा की दृष्टि रहती थी।

''हरि महाराज ने बलराम मन्दिर में एक दिन कहा, 'ब्राह्मण का शरीर केवल तपस्या के लिए है। इस शरीर का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।' महाराज एक दिन उद्बोधन से प्रकाशित किसी पुस्तक में 'त्वं' के बदले 'तं' प्रकाशित होने पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने दुख के साथ कहा, 'लोग कहेंगे, यहाँ पर कितने मूर्खों का जमावड़ा लगा हुआ है।' ''

१५ जून १९६०, अद्वैत आश्रम, कोलकाता

भूतेशानन्दजी ने इस दिन शरत महाराज (स्वामी सारदानन्द) के उदार हृदय के बारे में बहुत सारी बातें बतलाईं, ''उनका मन बहुत नरम था। वे सभी को आश्रय देते थे। सहायतार्थ आने वाले सभी को सहायता और उत्साह देते। वे श्रीमाँ सारदा के द्वारपाल के रूप में उद्बोधन में थे और वहीं पर उनका देहत्याग भी हुआ।''

महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द जी) के सम्बन्ध में भूतेशानन्दजी ने कहा, ''एक दिन दीक्षा के बाद एक स्त्री ने कहा, 'क्या यही दीक्षा है!' महापुरुष महाराज ने कहा, 'कल फिर से आना।' अगले दिन इस स्त्री को महाराज द्वारा थोड़ा-सा स्पर्श करने पर गम्भीर अनुभूति हुई।

''एक अन्य दिन महापुरुष महाराज मठ-प्रांगण से जा रहे थे। तभी एक व्यक्ति आकर उनको प्रणाम करने लगा, इससे महाराज प्राय: गिरने की स्थिति में आ गये। यह देखकर वह व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। महाराज ने कहा, 'वह कैसे जान पायेगा कि मैं कुछ नहीं देख रहा हूँ।' महाराज सदैव अन्तर्मुखी अवस्था में रहते थे।

''एक दिन दूसरे सम्प्रदाय के एक संन्यासी मठ में रात्रियापन कर रहे थे। महापुरुष महाराज ने उनको ब्रह्मज्ञानी के रूप में और उन संन्यासी ने भी महापुरुष महाराज को ब्रह्मज्ञानी के रूप में पहचान लिया था।

''महापुरुष महाराज संघ के दुर्दिन एवं संकटों में अविचलित रहते थे। ठाकुर के ऊपर क्या ही दृढ़ विश्वास था उनका! प्रात:काल पुजारी नींद से नहीं उठ पाता, तो महाराज स्वयं ही मंगलारती करने जाते। वे परनिन्दा एवं परचर्चा करना पसन्द नहीं करते थे। महाराज कहते, 'तुम्हारा क्या हो रहा है, यह देखो।' मठ के कुत्ते एवं गायों के प्रति उनके मन में बहुत संवेदना थी। जब गरीब मछुआरा मठ में मछली लेकर आता, तब वह जो मूल्य बतलाता महापुरुष महाराज उसको वही मूल्य देने को कहते थे। गरीबों के प्रति उनके हृदय में क्या ही अनुकम्पा थी! उनके जन्मदिन पर फोटो खींचने आने पर उन्होंने कहा था, 'निराकार का फोटो!' ''

१६ जून, १९६०, अद्वैत आश्रम, कोलकाता

इस दिन स्वामी शुद्धानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में भूतेशानन्द जी ने कहा, ''१८९७ ई. में स्वामीजी के कोलकाता आने पर सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) ने महाविद्यालय के छात्रों के साथ उनकी गाड़ी खींचीं थी। वे बहुत उत्साही विद्यार्थी थे तथा उनके भीतर intellectual honesty (बौद्धिक सच्चाई) थी। नहीं जानने पर वे कहा करते, 'मैं नहीं जानता।' ऊटपटाँग कुछ नहीं बोलते थे। वे बहुत straightforward (स्पष्टवादी) थे। उन्होंने स्वामीजी के सामने 'आत्मा' के विषय में आधा घण्टा तक व्याख्यान दिया था।

''वे साधु होना चाहते हैं, यह जानकर उनके पिताजी ने उनको घर में बन्द करके ताला लगा दिया था। पढ़ाई-लिखाई ही उनका विश्राम था। उन्होंने स्वामीजी के बहुत सारे लेखों का अनुवाद किया था। वे बहुत रसिक थे।...''

''सुधीर महाराज बहुत सहज-सरल थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा, 'मैं तपस्या करूँगा।' स्वामीजी ने सम्मति दी। सारी रात पेड़ के नीचे बैठे रहे, दूसरे दिन उनको बहुत सर्दी हो गयी।

''एक व्यक्ति ने आकर प्रश्न किया, 'संन्यासी होकर आपने गेरुआ वस्त्र क्यों पहन लिया?' सुधीर महाराज ने कहा, 'सभी को तो इस संसार को छोड़कर एक दिन चले जाना होगा। संसार में रहने पर ऊपर से बुलावा आने पर सब छोड़कर जाने में कष्ट होता है। इसीलिए सब छोड़-छाड़कर, गेरुआ पहनकर, अभी से ही जाने के लिए तैयार होकर बैठा हुआ हूँ।' ''

इसी दिन खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द) के बारे में भी महाराज ने बहुत सारी बातें बतायीं, ''खोका महाराज बहुत आमोद-विनोद प्रिय थे। वे हमेशा प्रसन्न रहते थे एवं उनका चाल-चलन एक वीर पुरुष की भाँति था। वे कई बार स्टीमर का महीने भर का टिकट लेकर घूमने जाते थे। एक बार कुछ युवकों के द्वारा बेलूड़ मठ की निन्दा करने से महाराज ने उन सबको बहुत डाँट-फटकार किया। तत्पश्चात् उन्होंने कहा, 'यदि बेलूड़ मठ बहुत आराम का स्थान है, तो यहाँ आकर रहो न!'

''स्वामीजी ने खोका महाराज को तबला का ठेका देना सिखलाया था, बोल था – 'रामधन दादा छोला खाय। दिच्छि देबो दिच्छि देबो।'

''यदि कोई ठाकुर का उपदेश सुनने के लिए बार-बार हठ करता, तो खोका महाराज गम्भीर होकर कहते, 'ठाकुर की बातें कौन सुनना चाहता है!' ''**(क्रमश:)**

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा में २५ फरवरी, २०२० मंगलवार को श्रीरामकृष्ण देव की जन्म-जयन्ती सोल्लास मनाई गयी। २५००० भक्तों को खिचड़ी प्रसाद वितरित किया गया। अपराह्न में सार्वजनिक सभा भी आयोजित हुई, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी सुवीरानन्द जी महाराज ने की। २८ फरवरी को भक्तशिविर का आयोजन हुआ, जिसमें २३०० भक्त समुपस्थित थे।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, विशाखापटनम्, आन्ध्रप्रदेश में रामकृष्ण मठ-रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ न्यासी, रामकृष्ण मठ, चेन्नई के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने दूरस्थ

ग्रामीण क्षेत्रों के छात्रों को आदर्शोन्मुखी शिक्षा प्रदान करने और विद्यालयीय पाठ्य विषयों के कोचींग हेतु 'दूर शिक्षणम्' की कक्षाओं का उद्घाटन किया। सम्प्रति 'दूर शिक्षणम्' योजना तीन स्थानों – श्रीकुलम् जिले के भवनपाद में, पूर्वी गोदावरी जिले के वेटलापालेम में और गुंटुर जिले के बपतला में संचालित हो रही है।

६ जनवरी को मेघालय के राज्यपाल श्री तथागत राय जी ने **रामकृष्ण मिशन, वाराहनगर** का आश्रम का परिदर्शन किया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर, छत्तीसगढ़ में ३१ जनवरी, २०२० को आकाबेड़ा और कुँदला में बालिका छात्रावासों का उद्घाटन रामकृष्ण मठ-मिशन के न्यासीद्वय स्वामी गिरीशानन्द जी और स्वामी सर्वभूतानन्द जी ने किया। १५ फरवरी को आश्रम के द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी किसान मेला का आयोजन किया गया, जिसमें ४५०० किसानों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, सलेम, तमिलनाडु के द्वारा २ फरवरी, २०२० को आश्रम की शताब्दी समारोह का समापनोत्सव मनाया गया। इस उपलक्ष्य में सार्वजनिक सभा आयोजित की गई। इस अवसर पर आश्रम के इतिहास से सम्बन्धित स्मारिका और पुस्तक भी प्रकाशित की गई, जिसका विमोचन पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज के कर-कमलों से हुआ। विशेष व्याख्यान और भजन भी हुए। इस कार्यक्रम में लगभग २३०० भक्त उपस्थित थे।

रामकृष्ण मिशन, अलांग में ९ फरवरी, २०२० को स्वामी अद्भुतानन्द जी की पावन जयन्ती पर विद्यालय भवन का उद्घाटन रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी सुवीरानन्द जी ने किया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नरेन्द्रपुर, कोलकाता में १२ फरवरी, २०२० को विद्यालय के प्रयोगशाला भवन का उद्घाटन रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज के कर-कमलों से सुसम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम में पश्चिम बंगाल सरकार के शिक्षा मन्त्री डॉ. पार्थसारथी चटर्जी, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा परिषद की अध्यक्षा डॉ. महुआ दास और लगभग २०० साधु उपस्थित थे।

रामकृष्ण मिशन दिव्यायन कृषि केन्द्र, मोराबादी राँची, झारखण्ड को २४ फरवरी को राष्ट्रीय स्तर पर सर्वश्रेष्ठ कृषि विज्ञान केन्द्र के रूप में दिल्ली में आयोजित सभा में कृषि और किसान कल्याण मन्त्री श्री नरेन्द्र सिंह तोमर जी ने सम्मानित किया।

विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ के संस्कृत विभाग के छात्रों ने राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा २८ से ३१ जनवरी, २०२० तक आयोजित 'चतुर्दश अखिल भारतीय संस्कृत छात्र-प्रतिभा महोत्सव' की विभिन्न प्रतियोगिताओं में पाँच मेडल – दो स्वर्ण, एक रजत, दो कांस्य पदक प्राप्त किए।